श्रीः ।

यज्ञोपवीत

श्रीशालग्राम शास्त्री

यज्ञोपवीत

त्रिगुणं त्रिगुणातीतबोधकं शोधकं सताम्।
प्रजापतेर्यत्सहजं तत्तत्त्वं किञ्चिदुच्यते।

यज्ञोपवीत या जनेऊ की प्रथा हिंदुओं में अति प्राचीन काल से चली आ रही है। ब्राह्मणों, उपनिषदों और वेदों तक में इसकी चर्चा है। पुराणों और अर्वाचीन साहित्य में भी इसके सम्बन्ध की बहुत बातें मिलती हैं। इसका प्रचार समस्त भारत में विद्यमान है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों और अनेक वैश्यों में भी यह संस्कार अब तक बराबर होता चला आ रहा है। आज इसी के संबन्ध में हमें पाठकों से दो-दो बातें करनी हैं।

यज्ञोपवीत-संस्कार को उपनयन, आचार्यकरण और व्रतबन्ध भी कहते हैं। यज्ञसूत्र, ब्रह्मसूत्र, उपवीत आदिक यज्ञोपवीत (सूत्र) के ही नामान्तर हैं, एवं इसके ऊपर रहनेवाली ग्रन्थि ब्रह्मपाश कहाती है। इस ग्रन्थि के हिस्सों के अलग-अलग नाम भी हैं—जैसे ब्रह्मपाश, प्रणव, प्रवर आदि।

यज्ञोपवीत-संस्कार के समय उत्तर भारत में जो कर्मकाण्ड का कार्य होता है, वह तीन वेदियों में विभक्त है—उपनयन, वेदारम्भ और समावर्तन। दक्षिण भारत में केवल दो वेदियों का कार्य उस समय होता है। समावर्तन का कार्य विवाह से पूर्व किया जाता है, उसी दिन नहीं।

उपनयन-संस्कार में आचार्य बालक को गायत्री-मन्त्र का उपदेश देता है, और वेदारम्भ की वेदी से वेद-पाठ का कार्य आरम्भ होता है। इन दोनों वेदियों के बाद ब्रह्मचर्य-पालन-पूर्वक वेदा-

ध्ययन का अधिकार प्राप्त होता है । समावर्तन के बाद गृहस्थ-धर्म में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है । प्राचीन काल में इन्हीं दो वेदियों के कार्य के अनन्तर बालक गुरुकुल में जाकर विद्याभ्यास करता था । 'समावर्तन' का अर्थ है, विद्या समाप्त करके—ब्रह्मचर्याश्रम का कार्य पूरा करके—गुरुकुल से लौटना । समावर्तन करते ही ब्रह्मचर्य आश्रम तो समाप्त हो गया, और यदि विवाह न हुआ तो गृहस्थाश्रम का आरम्भ नहीं हुआ, अतः वह बालक, जिसकी तीनों वेदियाँ एक ही दिन में पूरी कर दी गईं, न ब्रह्मचारी रहा, न गृहस्थ । वानप्रस्थ या संन्यासी तो हो ही कैसे सकता है । फलतः वह अनाश्रमी हो गया । उसकी गिनती किसी आश्रम में न रही । धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में अनाश्रमी की बड़ी निन्दा की है । इसी कारण दक्षिण-भारत में उपनयन के दिन केवल दो वेदियों का कार्य करने की प्रथा है । तीसरी वेदी—'समावर्तन'—का कार्य विवाह से पूर्व किया जाता है।

परन्तु एक बात है, यदि दो वेदियों का कार्य समाप्त करने के बाद बालक ब्रह्मचर्य का पालन न कर सका—जैसा कि आजकल बहुधा देखा जाता है—तो उसके पातित्य का कुछ ठिकाना नहीं । इसी कारण उत्तर भारत में तीनों वेदियों का कार्य एक साथ ही समाप्त कर देने और बालक को गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत मान लेने की प्रथा चली है ।

× × × ×

यज्ञोपवीत का आरम्भ भारत में कब हुआ, इसका ठीक-ठीक पता लगाना तो संभव नहीं, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि संसार के प्राचीनतम साहित्य—वैदिक साहित्य—में इसका उल्लेख है । हाँ, जिन लोगों में इसका प्रचार है, वे वैदिक-धर्मानुयायी कहे जा सकते हैं और उनकी धारणा है कि वेद

ईश्वरीय ज्ञान के प्रतिपादक हैं एवं यह यज्ञोपवीत की प्रथा अनादिकाल-सिद्ध अथवा 'सनातन' है।

इन लोगों का यह भी मत है कि संसार के आदिम पुरुष का नाम ब्रह्मा है। ब्रह्मा स्वयम्भू हैं। वेदों का ज्ञान भी इन्हें स्वयं प्रकाशित होता है। इनका कोई आचार्य या उपदेष्टा नहीं है। यही ब्रह्मा जगत् के विधाता और अपने बाद होनेवाले ऋषियों के वेदोपदेष्टा हैं। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। उन्हीं से सृष्टि का आरम्भ होता है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का सिलसिला बराबर चला आ रहा है। यह अनादि है, 'सनातन' है।

वेदों के नियम-पूर्वक पढ़ने का अधिकार यज्ञोपवीत-संस्कार के अनन्तर प्राप्त होता है। जब तक यह संस्कार न हो, तब तक वैदिक मतानुसार कोई भी वेदों के पढ़ने का अधिकारी नहीं समझा जाता। फिर ब्रह्माजी ने वेद कैसे पढ़े? उनका संस्कार किसने कराया? उनसे पहले तो कोई पुरुष था ही नहीं। क्या बिना संस्कार के—बिना द्विजत्व-प्राप्ति के—ही उनको वेदों का अधिकार मिला? क्या वेदों ने स्वयं अपने नियम का उल्लङ्घन किया? यह कैसे हो सकता है? वैदिक मत के अनुयायी और यज्ञोपवीत के पक्षपाती लोग उसे पहनाते समय कुछ मन्त्र पढ़ा करते हैं उनमें से एक निम्न-लिखित है। इसका मनन करने से पूर्वोक्त प्रश्न का कुछ रहस्य खुल जायगा—

"यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥"

अर्थ—यज्ञोपवीत परम पवित्र है। यह सृष्टि के आरम्भ (पुरस्तात्) में प्रजापति (ब्रह्मा) के साथ उत्पन्न हुआ था। आयु, बल और तेज को देनेवाले उस निष्कलमष यज्ञोपवीत को पहनो।

इस मन्त्र में 'प्रजापतेः सहजम्' यह हेतुगर्भ विशेषण है। 'प्रजापतेः सहजत्वात् परमं पवित्रम्'। प्रजापति का सहज होना परम पवित्रत्व का हेतु है। अर्थात् जो यज्ञोपवीत प्रजापति का सहजन्मा होने के कारण परम पवित्र है। बात स्पष्ट है। ब्रह्माजी पवित्र हैं। वेदों के विधाता और सृष्टि के रचयिता की पवित्रता में किसे सन्देह हो सकता है? परन्तु यह पवित्रता हुई कैसे? यदि यज्ञोपवीत ब्रह्माजी का सहजन्मा न होता, तो क्या उन्हें वेदों का अधिकार हो सकता था? कदापि नहीं। वैदिक मत के अनुसार तो अनुपनीत पुरुष को न नियमपूर्वक वेद पढ़ने का अधिकार है, न पढ़ाने का। यदि यज्ञोपवीत न होता तो ब्रह्माजी को भी वेदाधिकार कैसे प्राप्त होता? यह इसी के कारण हुआ है। फिर जब ब्रह्माजी के सदृश पवित्रात्माओं की पवित्रता भी यज्ञोपवीत के ही ऊपर निर्भर है, तो उस (यज्ञोपवीत) के परम पवित्र होने में क्या सन्देह है? वेदाधिकार का निष्पादक और द्विजत्व का संपादक होने के कारण यज्ञोपवीत परम पवित्र है, और निःसन्देह परम पवित्र है। इसीलिये तो कहा है कि 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्'।

यज्ञोपवीत ब्रह्माजी के साथ पैदा हुआ। वेदों का ज्ञान भी उन्हें सृष्टि-रचना-सामर्थ्य की तरह जन्म-सिद्ध हुआ। इसी कारण किसी वेदोक्त नियम का भङ्ग नहीं हुआ। हाँ, एक बात है। हम यह अयोनिज सृष्टि की बात कह रहे हैं, 'स्वयम्भू' के जन्म का हाल बता रहे हैं, आजकल की सृष्टि का नहीं। रज-वीर्य से निष्पन्न, ९ मास गर्भ में रहने से संपन्न और माता-पिता से उत्पन्न प्राणियों में न तो कोई यज्ञोपवीत पहने पैदा हो सकता है, न किसी को, विना संस्कार तथा आचार्य के, जन्म-सिद्ध वेदाधिकार ही प्राप्त हो सकता है। यह 'पुरस्तात्'—सृष्टि के आरम्भ—की बात है, आज की नहीं। स्वाभाविक ज्ञान की तरह

वेदों के स्वयं प्रतिभात होने की कथा है। गुरु के पास जाकर नियम-पूर्वक वेद पढ़नेवालों की नहीं।

× × × ×

यह पूर्वोक्त पद्य के पूर्वार्द्ध की बात हुई। अब इसके उत्तरार्द्ध पर ध्यान दीजिए। आचार्य (गुरु) बालक को यज्ञोपवीत पहनाते समय कहता है कि तू 'शुभ्रं यज्ञोपवीतं प्रतिमुञ्च'—परम पवित्र यज्ञोपवीत को पहन। यह तेरे लिये 'अग्र्यम् आयुष्यम् अस्तु'—सबसे बढ़कर आयु देनेवाला हो और 'बलं तेजः अस्तु'—बल तथा तेज देनेवाला हो। अब देखना यह है कि ये जनेऊ के तीन सूत—जो आजकल गली-गली मारे-मारे फिरते हैं—मनुष्य को आयु, बल और तेज कैसे दे सकते हैं? इनमें ऐसी कौन-सी बात है जो आयु, बल और तेज पैदा करती है? यज्ञोपवीत पहननेवालों में आज ऐसे कितने हैं, जो पूर्णायु, बलिष्ठ और तेजस्वी हों?

सच तो यह है कि आज हिंदुओं के शास्त्रोक्त संस्कारों का क्रियात्मक दृष्टि से प्रायः विलोप हो गया है। यज्ञोपवीत-संस्कार भी अब नाम-मात्र को रह गया है। केवल रस्म अदा की जाती है। संस्कार का क्या महत्त्व है, उसके कितने अङ्ग हैं, उनका क्या तात्पर्य है, इस पर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता। ध्यान दे भी कौन? जो इस संस्कार में आचार्य बनते हैं, वे स्वयं इन बातों से अनभिज्ञ होते हैं। अधिकांश अर्थज्ञान-शून्य लोग, कुछ मन्त्रों को रटकर, कर्मकाण्ड के आचार्य बन जाते हैं। रहे यजमान, वे निपट अनारी। फिर उन्हें संस्कार से कुछ 'दिलचस्पी' भी नहीं। 'यह सब तो पण्डितजी कर लेंगे'। उन्हें तो सिर्फ़ यह फ़िक्र सवार रहती है कि जनेऊ की दावत में किस-किस अँगरेज़ को बुलाया जाय और क्या-क्या खिलाया जाय। वे तो यही सोच

में मस्त रहते हैं कि जनेऊ की महफ़िल में गौहरजान का मुजरा होना चाहिए या विद्याधरी का। ऐसी दशा में यदि लोगों को इसके संबन्ध में कुछ ज्ञान न हो, तो आश्चर्य ही क्या ?

अपढ़ लोगों को जाने दीजिए। आप पढ़े-लिखे लोगों से ही पूछना शुरू कीजिए कि आप यह जनेऊ क्यों लटकाये हैं ? इसे दाहनी ओर ही रखने की क्या आवश्यकता है ? दूसरी ओर बदलकर पहनें तो क्या हर्ज है ? देव-कार्यों में इसे इसी प्रकार रहने दिया जाता है और पितृकार्य (श्राद्ध) करते समय दूसरे कंधे पर उलट दिया जाता है, यह क्यों ? पाख़ाने-पेशाब के समय इससे कान बाँधने की क्या ज़रूरत ? क्या यह सितार की खूँटी कसने का कोई तार है ? इसमें तीन ही तार क्यों ? 'ब्रह्मपाश' का क्या मतलब ? क्या यह ब्रह्माजी का बनाया हुआ पाश है ? अभी तो कहा है कि यज्ञोपवीत ब्रह्माजी के साथ पैदा हुआ था। जब उन्होंने इसे बनाया ही नहीं, तो ब्रह्मपाश के रचयिता वह कैसे हो सकते हैं ? ब्रह्मपाश की रचना करते समय सूत्र में तीन लपेट और तीन गाँठ लगाने का क्या मतलब ? कंधे से कमर तक ही यह क्यों रहता है ? आख़िर इन बातों में कुछ तत्त्व है या यह केवल अन्धपरम्परा है।

× × × ×

जातीयता या राष्ट्रीयता के नवीन पक्षपातियों को यह भी कहते सुना है कि शिखा-सूत्र भारत का जातीय चिह्न है। किसी समय—मुसलमानों के यहाँ आने से पहले—यह राष्ट्रीय चिह्न था। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि शिखा केवल जातीय चिह्न है और सूत्र (यज्ञोपवीत) द्विजत्व का चिह्न एवं महत्त्व का ख्यापक है। संभव है, इन बातों में कुछ तत्त्व हो, और जिस तरह आज प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय झंडे को ऊँचा किया करता

है, इसी तरह किसी समय प्रत्येक हिंदू, भारत के राष्ट्रीय झंडे (चोटी) को अपने सिर पर हर समय ऊँचा किए रहता हो, परन्तु विचार करने पर ये बातें कुछ जमती नहीं । मुण्डन के पहले न किसी बच्चे के चोटी होती है, न जनेऊ । क्या इन शिखा-सूत्र-विहीनों की गणना हिंदू-जाति में न होगी ? फिर संन्यासियों को तो देखिए, जो शिखा की जड़ तक खुदवा डालते हैं और सूत्र का नाम-निशान तक मिटा देते हैं । क्या ये हिंदू नहीं हैं ? या भारतीय नहीं हैं ? अथवा इनका द्विजत्व या महत्त्व नष्ट हो जाता है ? शास्त्रानुसार तो प्रत्येक वर्णाश्रमी का कर्तव्य है कि वह संन्यासी को देखते ही प्रणाम करे । यह महत्त्व घटने की बात है, या बढ़ने की ? जो लोग शूद्रों को यह कहकर भड़काया करते हैं कि ब्राह्मणों ने जनेऊ न देकर तुम्हें अपमानित किया है, उन्हें सोचना चाहिए कि जनेऊ फेंक देने के बाद भी संन्यासी लोग अपमानित क्यों नहीं हुए ? यह तीन वर्ण और तीन ही आश्रमों में है ; न शूद्रों में, न संन्यासियों में । ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन्हीं तीन में है । अब इसे कोरा जातीय चिह्न मानें या कोई धार्मिक तत्त्व ?

हमने एक बार अपने एक बंगाली मित्र से, जो जाति के ब्राह्मण और अँगरेज़ी के धुरन्धर विद्वान् थे, पूछा कि आप यज्ञोपवीत क्यों नहीं पहनते ? उन्होंने मुसकिराकर उत्तर दिया कि पुराने समय में—जब लोग पेड़ों की छाल पहनते थे तब—रुई एक दुर्लभ वस्तु थी । उस समय ऋषि लोग आभूषण के ढंग पर कुछ सूत्र गले में पहने रहते थे । परन्तु आज हमें जब इतनी रुई सुलभ है कि कमीज़, कोट, पतलून आदि सब उसी का बनाते हैं, तो अब उस पुरानी चाल को जारी रखना मूर्खता है ।

यदि यज्ञोपवीत के बनाने और पहनने में विशेष नियम तथा

अड़चनें न होतीं, उसका पहनना आभूषण की भाँति पहननेवाले की इच्छा पर निर्भर होता, तो निःसन्देह हमारे मित्र की उक्त कल्पना ठीक हो सकती थी। पर यह बात नहीं है। इसके बनाने, रखने, पहनने, उतारने आदि के बड़े कड़े नियम हैं, जो किसी आभूषण के लिये संभव नहीं।

× × × ×

रेल में जाते हुए कोई मौलवी साहब एक देहाती ठाकुर से भिड़ गए और 'पाक इस्लाम की फ़ज़ीलत' समझाने की ग़रज़ से उसके मोटे जनेऊ पर आवाज़ाकशी करने लगे। आपने बहुत कुछ कहकर साबित किया कि यह फ़िज़ूल धागा गले में डाले रखना हिमाक़त है। इसे निकाल फेंकिए। यह किस काम का है? ठाकुर साहब को क्या सूझी कि झट अपना जनेऊ निकालकर मौलवी साहब का गला फाँसा और कसना शुरू किया। मोटा जनेऊ और देहाती हाथ! कस के जो बैठा, तो मौलाना साहब की आवाज़ बंद हो गई, और आँखें निकल आईं। शायद बिहिश्त की हूरें दीखने लगी हों। लोगों ने दोनों योद्धाओं को अलग किया। ठाकुर ने सिर्फ़ इतना ही कहा कि देखो, यह इसी काम का है, और चुपके से बैठ गया। इसके बाद फिर रास्ते-भर मौलवी साहब ने किसी को 'इस्लाम की दावत' नहीं दी।

यज्ञोपवीत के असली उद्देश्य को कोई जाने या न जाने; पर इससे और अनेक काम बहुत पुराने समय से लिए जाते रहे हैं। लगभग दो हज़ार वर्ष की पुरानी बात है, जब एक चोर ने यज्ञोपवीत का गुणगान किया था। सुनिए—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्ग-
मेतेन मोटयति भूषणसंप्रयोगान्।

उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च।
(मृच्छकटिक)

चोरी करते समय जब उसे मालूम हुआ कि 'मानसूत्र' घर ही छूट गया तो झट यज्ञोपवीत उतारा, और उससे नापकर ठीक-ठीक सेंध बना ली। अब दीवार में छिपे बिच्छू ने काटा तो तुरन्त उँगली को यज्ञोपवीत से कस दिया, और बोला कि यह बड़े काम की चीज़ है। इससे नापकर दीवार में सेंध लगा सकते हैं। सोती हुई स्त्रियों और बच्चों के कसे हुए आभूषण इसकी सहायता से ढीले करके निकाल सकते हैं। बंद तालों को खोलने में तो यह ख़ूब ही काम देता है और यदि कहीं कोई कीड़ा काट खाय तो इसे लपेटकर दुस्सह पीड़ा भी सहन कर सकते हैं।

शूद्रक कवि को पूर्वोक्त ठाकुर साहब की बात शायद सूझी नहीं, वरना वह उसे भी शामिल कर देते।

आजकल तो लोगों ने और भी तरक़्क़ी कर ली है। यदि किसी अपराध के संदेह में पकड़े गए तो 'जनेऊ-क़सम' से बचत हो सकती है। कचहरियों में हिन्दू हाकिमों को जनेऊ दिखाकर अपनी बात की सत्यता सिद्ध की जा सकती है। यज्ञोपवीत में तालियाँ बाँधना तो आजकल राष्ट्रीय-धर्म समझा जाता है। और भी बहुत-से काम लिए जाते हैं। परन्तु इसके असली स्वरूप का पता बहुत कम लोगों को है। आज इसी के संबन्ध में कुछ बातें हम पाठकों की भेंट करेंगे।

उपनयन

'उप'-पूर्वक 'नी' धातु का अर्थ है पास लाना या पास पहुँचाना। उपनयन या यज्ञोपवीत-संस्कार में बालक आचार्य, अग्नि और सावित्री (गायत्री) के समीप लाया जाता है। 'अष्टवर्ष

ब्राह्मणमुपनयेत्' इस गृह्य-सूत्र पर भाष्य करते हुए गदाधर भट्ट ने लिखा है—"आचार्यस्य-उप-समीपे माणवकस्य नयनम् 'उपनयन' शब्देनोच्यते। उपनयनं च विधिना आचार्यसमीपनयनम्, अग्निसमीप-नयनं वा, सावित्रीवाचनं वा।" अर्थात् आचार्य के समीप लाना या अग्नि के समीप लाना अथवा गायत्री के समीप लाना (गायत्री-मन्त्र देना) 'उपनयन' शब्द का अर्थ है। फलतः यज्ञोपवीत-संस्कार के अनन्तर बालक को आचार्य और अग्नि की उपासना करनी पड़ती है, जिससे उसे मानसिक एवं शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है और गायत्री मन्त्र की भी उपासना (जप) करनी पड़ती है, जिससे उसे बुद्धि की पवित्रता (आत्मिक शक्ति) प्राप्त होती है।

'आचार्य आचारं ग्राहयति।' निरुक्तकार ने 'आचार्य' शब्द का अर्थ किया है सदाचार की शिक्षा देनेवाला। मनु ने लिखा है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।

(२। १४०)

उपनयन के अनन्तर, कल्प (यज्ञप्रक्रिया) और रहस्य (उप-निषत्) सहित वेद तथा वेदाङ्गों की यथावत् शिक्षा देनेवाला आचार्य कहाता है।

उपनयन के समय जब बालक आचार्य के समीप जाता है, तब वह उससे पूछता है—'कस्य ब्रह्मचार्यसि'—तू किसका ब्रह्मचारी है? बालक उत्तर देता है—'भवतः' (आपका)। उस समय आचार्य कहता है—

"इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि अग्निराचार्यस्तवाऽहमाचार्यस्तवाऽसौ।"

तू इन्द्र (परमेश्वर) का ब्रह्मचारी है। अग्नि तेरा आचार्य है और मैं तेरा आचार्य हूँ।

इसके बाद आचार्य ब्रह्मचारी के आरोग्य के लिये उपदेश-पूर्ण

प्रार्थना करता है—"प्रजापतये त्वा परिददामि, देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै ।"

'अरिष्टि' अर्थात् आरोग्य के लिये मैं तुझे प्रजापति को देता हूँ । 'सविता' (सूर्य) देवता को देता हूँ । जल और ओषधियों को देता हूँ । पृथिवी और अन्तरिक्ष को देता हूँ एवं सब देवता और सब भूतों को देता हूँ । कुछ अथर्व-वेद के मन्त्र भी इस जगह पढ़े जाते हैं, जिनमें मनुष्य पर आक्रमण करनेवाले प्राणघातक अदृश्य कीटाणुओं (Germs) का वर्णन है, और उनको मारने की बात कही गई है ।

इन मन्त्रों का तथा सूर्य, जल, ओषधी, पृथिवी आदि से आरोग्य कैसे प्राप्त होता है, इन सब बातों का विस्तृत वर्णन हमने 'आयुर्वेद-महत्त्व' में किया है । यहाँ उसका विस्तार सम्भव नहीं ।

अग्नि में कुछ आहुतियाँ देने के अनन्तर आचार्य ब्रह्मचारी को आचरण-सम्बन्धी उपदेश देता है । यथा—'ब्रह्मचार्यसि, अपोऽशान, कर्म कुरु, मा दिवा सुषुप्था, वाचं यच्छ, समिधमाधेहि' इत्यादि । अर्थात् तू आज से ब्रह्मचारी है । प्रतिदिन आचमन किया कर । सन्ध्या, हवन आदि नित्यकर्म नियम से किया कर । दिन में कभी न सोना । वाणी को नियम में रख (झूठ, व्यर्थ, अनर्थ तथा अधिक भाषण न किया कर) प्रतिदिन समिधाओं की आहुति अग्नि में दिया कर । गाना, बजाना, नृत्य, पान, फुलेल, अञ्जन आदि का त्याग कर, इत्यादि ।

उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचारी को परमात्मा, अग्नि और आचार्य, इन तीनों की आराधना करनी पड़ती है । गायत्री मन्त्र के द्वारा परमात्मा की आराधना से उसे आत्मिक शक्ति प्राप्त होती है । (इसका वर्णन आगे आयेगा) अग्नि से शारीरिक

शक्ति प्राप्त होती है, और आचार्य से मानसिक शक्ति मिलती है। आचार्य बालक को बताता है कि तू केवल मेरा ही ब्रह्मचारी नहीं है, तुझे मुझसे ही सब शक्तियाँ प्राप्त न होंगी। तुझे इन्द्र और अग्नि की आराधना के द्वारा भी शक्ति-संचय करना होगा। ये भी तेरे आचार्य हैं। तू इनका भी ब्रह्मचारी है। मेरे ही समान तुझे इन दोनो की भी प्रतिदिन आराधना करनी होगी।

इन सब उपदेशों के अनन्तर आचार्य बालक से कहता है कि 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि' अर्थात् जो हमारे अच्छे आचरण हैं, उन्हीं का अनुकरण तुझे करना चाहिए। यदि हममें कोई त्रुटि हो—यदि हमारी कोई दुर्बलता और दुश्चरित्र हो—तो उसका अनुकरण तू कदापि न करना। कितने उच्च आदर्श और उदार हृदय की बात है।

ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचारी का प्रधान लक्ष्य है। इसके लिये उसे सादा भोजन, सादा रहन-सहन, शौक़ीनो की सब वस्तुओं का त्याग तथा आठों प्रकार के मैथुनों से बचना आवश्यक है। स्त्रियों का स्मरण, कीर्तन, उनके साथ क्रीड़ा, संलाप, गुह्यभाषण आदि सब वर्जित हैं। स्त्रियों के बीच में रहना, गाँव में रहना, काँसे के पात्र में भोजन करना, फुलेल लगाना, सुरमा देना, पान खाना, कोमल गद्दों पर सोना, मद्य, मांस, लहसन, प्याज, छतरी, जूता आदि का उपयोग इत्यादि सब सामग्री ब्रह्मचारी को त्याज्य है। एक ओर मन को विचलित करनेवाली सब वस्तुओं से अलग रहकर वीर्य की रक्षा करना और दूसरी ओर कठिन तपस्या तथा अग्नि की उपासना से अपने तेज को बढ़ाना ब्रह्मचारी का धर्म है। दिन में सोने से प्रायः स्वप्नदोष होने लगता है, अतः ब्रह्मचारी के लिये यह विशेष रूप से त्याज्य है।

प्रतिदिन दोनों समय (प्रातः,सायम्) अग्नि का संधुक्षण और हवन करते समय ब्रह्मचारी जिन मन्त्रों को पढ़ता है, उनमें से कुछ ये हैं—

'ॐ यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि' 'एवं मां सुश्रवः सौश्रवसं कुरु' 'यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि', 'एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम् ।

हे अग्ने, तुम तेज से सम्पन्न हो। मुझे भी उससे सम्पन्न करो। हे अग्ने, जैसे तुम देवताओं के यज्ञ के ख़ज़ांची (निधिपा) हो, यज्ञ की सम्पूर्ण आहुतियाँ तुम्हारे ही पास पहुँचती हैं, और तुम प्रत्येक देवता के अंश को सुरक्षित रूप में उसके पास पहुँचाते हो, इसी प्रकार मैं मनुष्यों के वेद का अधिकारी (ख़ज़ांची या निधिपा) बनूँ, वेदों के ज्ञान को मनुष्यों तक यथावत् पहुँचाने योग्य बनूँ ।

'ॐ तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।' 'ॐ आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।' ॐ वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।' 'ॐ अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण।' 'ॐ मेधां मे देवः सविता आदधातु।' 'ॐ मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु।' 'ॐ मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ।'

हे अग्ने, तुम शरीर के रक्षक (तनूपा) हो, मेरे शरीर की रक्षा करो। तुम आयु देनेवाले हो, मुझे आयु दो । तुम तेज के दाता हो, मुझे तेजस्वी बनाओ। हे अग्ने, मेरे शरीर में जो कुछ कमी हो, उसे तुम पूरा करो । सविता, सरस्वती और अश्विनीकुमार मुझे मेधा अर्थात् सत्-असत् का विवेक करने में समर्थ बुद्धि-प्रदान करें ।

हमने यहाँ इन मन्त्रों का अक्षरार्थ-मात्र लिख दिया है। विस्तार-भय से सूक्ष्म विवेचना नहीं की है। अग्नि में कौन-कौन शक्तियाँ हैं, और वे ब्रह्मचारी को उससे किस प्रकार मिलती हैं, इसका बीज इन मन्त्रों में निगूढ है । विवेचनाशील पाठक स्वयं विचार लें ।

इन मन्त्रों में अग्नि से और अग्नि के द्वारा जिन देवताओं (सविता, सरस्वती आदि) को हविर्भाग पहुँचाया जाता है, उनसे प्रार्थना की गई है। ब्रह्मचर्य के कठिन नियमों का पालन करता हुआ तपस्वी बालक इन मन्त्रों के द्वारा प्रतिदिन दोनों समय अग्नि से तेज ग्रहण करता हुआ वैदिक ज्ञान का सम्पादन करता है। आचार्य विद्यादान और आचार-शिक्षा के द्वारा उसे मानसिक शक्तियाँ देता है, और गायत्री मन्त्र के जप द्वारा वह अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करता है।

× × × ×

मनुस्मृति में लिखा है—

व्रतबन्ध

कृतोपनयनस्याऽस्य व्रतादेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ (२ अ० । १७३)

उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचारी को व्रतादेश और नियम-पूर्वक ब्रह्म-ग्रहण (वेदाध्ययन) का अधिकार प्राप्त होता है। उपनयन-संस्कार का ही दूसरा नाम 'व्रतबन्ध' है। हिन्दु-शास्त्रों को ध्यान-पूर्वक देखने से पता चलता है कि उनका उद्देश्य मनुष्य-जीवन को तपोमय, यज्ञमय, अनुष्ठानमय अथवा धर्ममय बनाना है। शब्द चाहें जो कहिए, तात्पर्य एक ही है। 'धर्म' शब्द का अर्थ इतना व्यापक है कि जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त की कोई महत्त्वपूर्ण घटना इससे बाहर नहीं होने पाती। यज्ञोपवीत के दिन बालक का जीवन 'व्रत' में बाँधा जाता है, इसीलिये इसे 'व्रतबन्ध' कहते हैं। 'व्रत' शब्द का अर्थ है त्याज्य वस्तु का त्याग और ग्राह्य वस्तु का ग्रहण। त्याग और ग्रहण इन दोनों अर्थों में 'व्रत' धातु का प्रयोग होता है। 'पयो व्रतयति', 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' इत्यादि वाक्यों में केवल दूध पीनेवाले को 'पयोव्रत' कहा गया

है, और 'शूद्रान्नं व्रतयति' का अर्थ है शूद्रान्न का त्याग करनेवाला। 'व्रतबन्ध' के दिन ब्रह्मचारी को आचार्य जो उपदेश देता है— जिसका वर्णन मनुस्मृति के दूसरे अध्याय में विस्तृत रूप से है— उसमें कुछ वस्तुओं के त्याग और कुछ वस्तुओं के ग्रहण का ही विधान है। प्रातः-सायं हवन, सन्ध्या, स्वाध्याय, आचार्य-वन्दन आदि का विधान और दिन में सोना, शृङ्गारिक वेष, भूषा, कथा आदि अनेक बातों का त्याग ब्रह्मचारी के लिये बताया है। इस दिन ब्रह्मचारी अपने को एक बहुत बड़े व्रत के बन्धन में डालता है। वास्तव में प्रत्येक द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का जीवन ही व्रतमय है। वर्णाश्रम से बाहर के लोगों की तरह उच्छृङ्खलता-पूर्वक उसे किसी कार्य के कर डालने की सुविधा नहीं है। उसके कार्य शास्त्रीय मान-मर्यादा से सर्वथा नियन्त्रित हैं।

सम्भव है, इस नियन्त्रण को कोई गुलामी, दासता, परतन्त्र-मतित्व या मूर्खता तक कह डाले, परन्तु एक सच्चा और विवेक-शील हिन्दू ऐसा नहीं समझ सकता। कैकेयी की स्वार्थपरायण नीति में फसे बूढ़े पिता की अनिच्छा-पूर्वक दी हुई आज्ञा से राज्य त्याग देना और १४ वर्ष के लिये घोर दुर्गम वन में चला जाना किसी जल्दबाज़, अदूरदर्शी की दृष्टि में भले ही गुलामी, मूर्खता या कायरता हो, परन्तु मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र की बुद्धि वैसा नहीं समझती। वह उस आज्ञा-पालन में ही वास्तविक आनन्द का अनुभव करती और उसी को लोक-परलोक के सुधार का मार्ग समझती है।

× × ×

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव गायत्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥
एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।

सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ८६ ॥
जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥
(मनु २ अध्याय)

ओंकार और तीन महाव्याहृतियों (ओं भूर्भुवः स्वः) से युक्त त्रिपदा गायत्री ('तत्सवितुः' इत्यादि) को ब्रह्म (वेद) का मुख (द्वार) समझना चाहिए। दोनों सन्ध्याओं के समय (प्रातः-सायम्) इसके जपने से वेदाध्ययन का पुण्य प्राप्त होता है। जप-यज्ञ अन्य यज्ञों (विधियज्ञ, पाकयज्ञ आदि) की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। ब्राह्मण यदि और यज्ञ न कर सके, तो कोई चिन्ता नहीं ; परन्तु जप उसे अवश्य करना चाहिए। प्रातःकाल की सन्ध्या से रात्रि का और सायङ्काल की सन्ध्या से दिन का पाप दूर होता है। जो द्विज प्रातःकाल और सायङ्काल की सन्ध्या नहीं करता, उसे शूद्र के समान सम्पूर्ण द्विजकृत्यों से बाहर कर देना चाहिए। इस प्रकार 'उपनयन' के तीन अङ्गों (आचार्य-सेवा, अग्नि-सेवा और गायत्री-जप) का यह संक्षिप्त विवरण हुआ।

× × ×

हाँ, तो व्रतबन्ध के दिन द्विज-बालक अपने को एक बहुत बड़े व्रत के बन्धन में डालता है।

"दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति स यामुपयन्त्समिधमादधाति सा प्रायणीया यां स्नास्यन्त्सोदनीयाऽथ या अन्तरेण सत्या एवाऽस्य ताः। ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यमुपयन् चतुर्धा भूतानि प्रविशति अग्निम्पदा मृत्युम्पदाऽऽचार्यम्पदाऽऽत्मन्येवाऽस्य चतुर्थः पादः परिशिष्यते। स यदग्नये समिधमाहरति य एवाऽस्याग्नौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्यात्मन्धत्ते स एनमाविशति।

"अथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्येवाऽह्रीर्भूत्वा भिक्षते य एवाऽस्य मृत्यौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्याऽऽत्मन्धत्ते स एनमाविशति। अथ यदाचार्यवचसं करोति यदाचार्याय कर्म करोति य एवाऽस्याचार्ये पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्यात्मन्धत्ते स एनमाविशति।"

अर्थात् ब्रह्मचर्य का ग्रहण करना एक 'दीर्घसत्र' (बहुकालव्यापी यज्ञ) का ग्रहण करना है। यज्ञोपवीत के दिन से वह 'दीर्घसत्र' आरम्भ होता है, और यावज्जीवन (संन्यासपर्यन्त) बना रहता है। हम पहले कह चुके हैं कि वर्णाश्रम-धर्म का पालन करनेवाले द्विज का जीवन यज्ञमय है। उसकी दिनचर्या रात्रिचर्या जो वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार बनती है, उसी दीर्घसत्र का अङ्ग है। ब्रह्मचर्य इसकी पहली सीढ़ी है, गृहस्थाश्रम दूसरी और वानप्रस्थ तीसरी। संन्यास का आरम्भ होते ही यह दीर्घसत्र—जिसका ग्रहण ब्रह्मचर्य के दिन किया गया था—समाप्त हो जाता है। यदि संन्यास न लिया, तो मरणपर्यन्त इसके नियमों का पालन आवश्यक होता है। ब्रह्मचर्य के समय द्विजबालक अपने में जो शक्ति संचय करता है, उसकी चर्चा पूर्वोक्त मन्त्र में है।

"ब्रह्मचर्य को धारण करनेवाला द्विज चार भागों से महाभूतों में प्रवेश करता है। एक भाग से अग्नि में, दूसरे भाग से मृत्यु में, तीसरे भाग से आचार्य में। चौथा भाग उसका अपने में ही अवशिष्ट रहता है।" यदि अपने में चौथा भाग अवशिष्ट न रहे

तो बाहर से आनेवाली शक्तियों का सञ्चय काहे में हो ? आहार, निद्रा, भय और मैथुन प्राणिमात्र में समान हैं। पैदा होते समय ब्राह्मण और शूद्र में कोई भेद नहीं होता। जब तक संस्कार न हो, तब तक ब्राह्मण का बालक भी 'शूद्र-सदृश' (शूद्र के समान कामचार और कामभक्ष, वास्तविक शूद्र नहीं) होता है। द्विजत्व की प्राप्ति उपनयन संस्कार से ही होती है। "जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।"

यह द्विजत्व क्या है ? शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों का विकास और संस्कार, जिसकी चर्चा प्रकृत वैदिक वचनों में हो रही है।

हान और उपादान जीवन के प्रधान चिह्न हैं। जिसमें जीवन है वह—मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म आदि कुछ भी क्यों न हो—अपनी हितकर वस्तुओं को बाहर से ग्रहण करता और अहित तथा व्यर्थ वस्तुओं को अपने शरीर से बाहर फेंकता है। इतना ही नहीं, वह बाहर से ली हुई वस्तुओं का अपने अन्दर संस्कार भी करता है। उस संस्कार से शुद्ध कर लेने पर वह उन्हें अपनाता है। इस संस्कार के द्वारा बाहर से आई वस्तुओं का एकदम रूपान्तर हो जाता है। इस रूपान्तर से ही वे अपने ग्रहीता के उपयुक्त बनती हैं। जिसमें—जाति हो या व्यक्ति—यह हान-उपादान और संस्कार का क्रम जारी नहीं है, उसे जीवित नहीं कहा जा सकता। जीवन का यही प्रधान लक्षण है। जो वृक्ष जीवित है, वह अपना भोजन पृथ्वी से खींचता है। मूली आदिक कन्द अपने पत्तों के द्वारा बाहरी वायु से अपना खाद्य पदार्थ संचित करते हैं। यदि खेत में लगी मूली के पत्ते तोड़ दिए जायँ, तो उसके कन्द का बढ़ना बन्द हो जायगा। वृक्ष आदि जिस वस्तु को (पृथ्वी या वायु से जिस जलीय और पार्थिव अंश को) खींचते हैं, उसका

फिर अपने में संस्कार भी करते हैं। इसी ंस्कार के बाद बाहर से आया हुआ पदार्थ उनके शरीर के उपयुक्त होता है। नीम, आम और गन्ना एक ही पृथ्वी में से एक-सा रस खींचते हैं। परन्तु अपने-अपने पत्तों में—जो उनकी पाक-स्थली है—उसे फिर से संस्कृत करते हैं। इसी संस्कार के द्वारा बाहर से आए द्रव्य के रूप-रसादि का एकदम परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन प्रत्येक जाति के वृक्ष में भिन्न-भिन्न रूप से होता है। यही कारण है कि नीम के अङ्ग का प्रत्येक परमाणु कड़वा और गन्ने का मीठा होता है। प्रत्येक जीवित वृक्ष बाहर से लिए हुए खाद्य पदार्थ का शुद्धि-संस्कार करके इसी प्रकार उसे अपने अनुरूप बनाता है।

मनुष्य और पशु-पक्षियों का भी यही हाल है। रोटी, दाल, भात, मिठाई, भूसा, चोकर, फल, फूल आदि को खाने के बाद इनकी पाक-स्थली में हलचल मच जाती है, और बाहर से आई हुई वस्तु का संस्कार आरम्भ होता है। उसके बाद अपने शरीर के उपयुक्त अंश खींचना आरम्भ होता है। जो वस्तु व्यर्थ बचती है, वह पाख़ाना, पेशाब आदि मलों के रूप में बाहर फेंकी जाती है, और जो हितकर होती है, वह रुधिर आदि के रूप में परिणत होकर शरीर का अङ्ग बनती है। जीवन का यही चिह्न है कि बाहर से ली हुई वस्तु का संस्कार करके उसे अपने में रक्खे। यदि किसी में संस्कार करने की शक्ति नहीं है, तो वह जीवित नहीं। संदूक़ में रक्खे हुए कपड़े और मशक में भरा हुआ पानी उसी रूप में रह सकता है, परन्तु जीवित पेट में पहुँचा भोजन अविकृत नहीं रह सकता।

अब प्रकृत वेद-मन्त्र के अर्थ पर विचार कीजिए। "स यदग्नये समिधमाहरति य एवास्याग्नौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्याऽऽ-दमन्धत्ते स एनमाविशति" ब्रह्मचारी चार प्रकार से महाभूतों में प्रवेश करता है, यह पहले कहा जा चुका है। यह उसी का विवरण है।

इसमें एक चरण (अंश) से अग्नि में प्रवेश करने की बात है। ब्रह्मचारी प्रतिदिन सायं-प्रातः जो हवन करता है—अग्नि में समिधाओं की आहुति देता है—उससे अग्नि में अवस्थित अपने अंश को वापस लेता है, या मोल लेता है। जिस प्रकार मोल लेने में कोई चीज़ देकर उसके बदले में दूसरी चीज़ ली जाती है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी आहुतियाँ देकर अग्नि से शक्तियाँ लेता है, यह तात्पर्य है। और फिर अग्नि से लिए हुए अंश का संस्कार करके ('संस्कृत्य') उसे अपने में रखता है। तब वह अग्नि से आया हुआ अंश इस ब्रह्मचारी में 'आविष्ट' होता है। अर्थात् इसके शरीर में तन्मय हो जाता है। बाहर से आई हुई वस्तु का संस्कार करके उसे अपने अनुरूप बनाना ही जीवन का चिह्न है। अग्नि में जो शक्तियाँ जिस रूप में हैं, वे मनुष्य के शरीर में उसी रूप में उपयुक्त नहीं हो सकतीं। पार्थिव अग्नि का तेज सूक्ष्म रूप में परिणत होकर शरीर और मन में 'आविष्ट' हो सकता है, स्थूल रूप से नहीं। जैसे खाया हुआ भोजन का सूक्ष्म अंश रस, रुधिर आदि के रूप में परिणत होकर शरीर में आविष्ट होता है, उसी प्रकार अग्नि का सूक्ष्म अंश तेज और ब्रह्मचर्य आदि के रूप में परिणत होकर ब्रह्मचारी के शरीर और मन में तन्मय होकर निवास करता है। अग्नि से शक्तिसञ्चय करते समय—हवन के समय—ब्रह्मचारी जो मन्त्र पढ़ता है, उनमें से एक इस प्रकार है—

'ॐ अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथात्वमग्ने समिधा समिध्यसे एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसानि अनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासं स्वाहा।'

अर्थात्—बृहत् जातवेदा, अग्नि के लिये मैं समिधा लाया हूँ। हे अग्ने, जैसे तुम इस समिधा से समिद्ध (प्रज्वलित, प्रदीप्त

और परिवर्धित) होते हो, उसी प्रकार मैं आयु, बुद्धि (विवेक-शक्ति), तेज, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से समिद्ध (प्रदीप्त और परिवर्धित) होऊँ। मेरे आचार्य (जिनके आचार्य-कुल या गुरुकुल में मैं पढ़ता हूँ और जो सब शिष्यों के पिता हैं) 'जीवपुत्र' हों, अर्थात् उनका कोई भी पुत्र मृत्यु के मुख में न जाय। मैं मेधावी (सत्-असत् के विवेक में समर्थ) होऊँ। मैं कभी वैदिक धर्म का निराकरण न करूँ, अर्थात् मैं कभी नास्तिक न होऊँ। मैं यशस्वी, तेजस्वी (शारीरिक तेज से युक्त) ब्रह्मवर्चसी (ब्रह्मतेज से युक्त) और अन्नाद—अन्न खानेवाला (मांस खानेवाला नहीं) बनूँ।

जिन लोगों नें मीमांसा शास्त्र पढ़ा है, वे जानते हैं कि प्रत्येक वैदिक अनुष्ठान से 'अपूर्व' नामक एक संस्कार की उत्पत्ति होती है। वैदिक शब्दों में कुछ विशेष शक्ति होती है। उन शब्दों को उनके ठीक-ठीक स्वरादि के साथ उच्चारण करके वैदिक विधि का यथावत् अनुष्ठान करने से मनुष्य के अन्तःकरण में एक संस्कार उत्पन्न होता है। इसी को 'अपूर्व' कहते हैं। यह नियत समय में उन फलों को उत्पन्न करता है, जिनके लिये वह वैदिक विधि की गई थी। जो ब्रह्मचारी ८ वर्ष की आयु से २४ वर्ष की आयु (कम-से-कम सोलह वर्ष) तक पूर्वोक्त वैदिक विधि का अनुष्ठान करता है, नियम-पूर्वक दोनों समय समिदाधान और ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करता है, उसमें एक 'अपूर्व' उत्पन्न होकर प्रकृत वेद-मन्त्र में उल्लिखित प्रार्थनाओं को पूर्ण करता है, यह याज्ञिक लोगों का मत है।

× × ×

प्रकृत मन्त्र के 'जीवपुत्रो ममाचार्यः' से प्रतीत होता है कि किसी समय भारत में छोटे बच्चों की मृत्यु नहीं हुआ करती थी। गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों की तरह ब्रह्मचारी नहीं मरा करते

थे। एक दूसरे वैदिक मन्त्र में भी इसी प्रकार की बात पाई जाती है—

"ॐ ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत् तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्। सोऽब्रवीत् अस्तु मह्यमप्येतस्मिन् भाग इति यामेव रात्रिं समिधं नाहराता इति तस्माद् यां रात्रिं ब्रह्मचारी समिधं नाहरत्यायुष एव तामवदाय वसति तस्माद् ब्रह्मचारी समिधमाहरेन्नेदायुषोऽवदाय वसानीति।"

अर्थात् ब्रह्म ने सब प्रजा मृत्यु को दी, परन्तु केवल ब्रह्मचारी को नहीं दिया। मृत्यु ने कहा, मुझे इसमें भी भाग दो। उत्तर मिला, जिस दिन यह समिधा का हवन न करेगा, वही इसकी मृत्यु का दिन होगा। इसलिये जिस दिन ब्रह्मचारी हवन नहीं करता, उस दिन उसकी आयु क्षीण होती है। अतः ब्रह्मचारी को चाहिए कि प्रतिदिन समिदाधान करे, जिससे उसकी आयु क्षीण न हो।

यह आलङ्कारिक वर्णन है। ब्रह्मचारी अग्नि के द्वारा शक्ति सञ्चय करता है, यह बात कही जा चुकी है। जिस दिन वह अपनी शक्तियाँ सञ्चित न करेगा, उतनी ही कमी (या मृत्यु) उसकी पूर्णता में रह जायगी। इसी मृत्यु से बचने के लिये प्रतिदिन नियमपूर्वक हवन करने का विधान है।

× × ×

ब्रह्मचारी एक अंश से अग्नि में प्रवेश करता है, इसकी चर्चा हो चुकी। अब अगले अंश 'मृत्युं पदा' को देखिए। दूसरे अंश से ब्रह्मचारी मृत्यु में प्रवेश करता है।

मृत्यु दो प्रकार की होती है। शारीरिक मृत्यु और मानसिक मृत्यु। आत्मा सदा अमर है। शारीरिक मृत्यु शरीर के विकृत तथा दूषित होने से होती है, और मानसिक मृत्यु मन के विकृत और दूषित होने से। शरीर के विकार ज्वर, अतीसार आदि और दोष

वात, पित्त, कफ कहाते हैं, एवं मन के विकार काम, क्रोध, लोभ, मत्सर आदि और दोष रजस्, तमस् कहाते हैं ।

"रजश्च तमश्च मानसौ दोषौ शारीरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः ।"

(चरक)

शारीरिक मृत्यु से बचने के लिये शरीर में शक्ति-सञ्चय करने की और मानसिक मृत्यु से बचने के लिये मन को रजोगुण, तमोगुण से बचाकर सात्त्विक और शान्त बनाने की आवश्यकता है । शारीरिक शक्तियों की बात अग्नि के प्रकरण में विशेष रूप से आ चुकी है । अब अगले खण्ड में मानसिक मृत्यु और मानसिक शक्ति की चर्चा करते हैं ।

"अथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्येवाह्रीर्भूत्वा भिक्षते य एवाऽस्य मृत्यौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्याऽऽत्मन्धत्ते स एनमाविशति ।"

अर्थ—ब्रह्मचारी अपने को दरिद्र के सदृश बनाकर, लज्जा छोड़कर जो भिक्षा करता है, उससे मृत्यु को जीतता है । मृत्यु से अपने अंश को लेकर उसका संस्कार करके उसे अपने में रखता है। इस प्रकार संस्कृत होकर वह अंश ब्रह्मचारी में 'आविष्ट' होता है।

ब्रह्मचारी धनी का पुत्र होने पर भी एक दरिद्र के पुत्र के समान ही अपने को बनाता है, और दोनों एक-से आहार-व्यवहार और वेष में रहते हैं । दोनों ही समान रूप से भिक्षा माँगते और गुरु की सेवा करते हैं । धनी के पुत्र को धन का गर्व और अपनी मिल्कियत का घमंड—जो उसके मानसिक विकार और मानसिक मृत्यु के कारण हैं—छोड़ने पड़ते हैं । उसे साधारण दरिद्र गृहस्थ के घर भी भिक्षा माँगनी पड़ती है । इससे उसके मन के रजोगुण और तमोगुण चूर-चूर हो जाते हैं । वह यदि एकदम हृदय-हीन नहीं है, तो निःसन्देह यह अनुभव करने लगता है कि मेरा पालन-पोषण करनेवाला केवल मेरा पिता ही नहीं, बल्कि देश का दरिद्र

से-दरिद्र गृहस्थ भी मेरा पिता है, जिसकी दी हुई भिक्षा से मेरा पालन-पोषण होता है। मैं समस्त देश का बालक हूँ। मैंने सबका अन्न खाया है। इससे उऋण होने के लिये देश-भर की सेवा करना मेरा धर्म है। एक दरिद्र-से-दरिद्र देशवासी गृहस्थ को पितृ-तुल्य समझना मेरा कर्तव्य है इत्यादि। इस प्रकार के भावों के मन में उद्भूत होने से अभिमान, ईर्ष्या, मत्सर, घृणा, क्रोध और द्वेष आदि विकार—जो रजोगुण और तमोगुण-नामक दोषों से उत्पन्न होते हैं—अपने आप ही शान्त हो जाते हैं और सात्त्विक शान्ति का उदय होता है, जिसके कारण ब्रह्मचारी मानसिक मृत्यु से बचता है।

"अथ यदाचार्यवचसं करोति यदाचार्याय कर्म करोति य एवाऽस्याचार्ये पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्याऽऽत्मन्धत्ते स एनमाविशति।"

"और जो आचार्य की आज्ञा का पालन करता है एवं आचार्य की सेवा-शुश्रूषा आदि करता है, उससे वह (ब्रह्मचारी) आचार्य से अपना अंश लेता है, और उसे संस्कृत करके अपने में रखता है। वह विशुद्ध अंश इसमें 'आविष्ट' होता है।" एक ही गुरु से अनेक विद्यार्थी पढ़ते हैं; परन्तु गुरु-शुश्रूषा करनेवालों को जो चमत्कार और उत्कर्ष प्राप्त होता है, वह अन्यों को नहीं होता। यह बात आज भी प्रत्यक्ष है। जिन्होंने गुरुचरणों की सेवा करके कुछ लाभ उठाया है, वे भुक्तभोगी ही इस वैदिक मन्त्र का वास्तविक महत्त्व समझ सकेंगे।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों के सञ्चय की बात हुई। इन्हीं शक्तियों के आधार पर वेद में कहा है कि "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत" अर्थात् ब्रह्मचर्य और तपस्या के बल से देवताओं ने मृत्यु को पराजित किया।

यज्ञोपवीत पहनाने का एक मन्त्र कौषीतकि ब्राह्मण में इस प्रकार है---

"यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे।"

आचार्य ब्रह्मचारी से कहता है कि मैं 'त्वा'=तुझे 'यज्ञोपवीतेन'=यज्ञोपवीत से 'उपनह्यामि'=बाँधता हूँ। किसलिये ? 'दीर्घायुत्वाय'=दीर्घ आयु प्राप्त करने के लिये, बल और तेज प्राप्त करने के लिये।

पारस्कर-गृह्यसूत्र के भाष्यकार श्रीगदाधर ने 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' का अर्थ लिखा है कि "हे आचार्य, इदं ब्रह्मसूत्रम् अहं प्रतिमुञ्च=प्रतिमुञ्चामि... 'पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः' अर्थात् ब्रह्मचारी कहता है कि हे आचार्य, मैं यज्ञोपवीत पहनूँ। 'प्रतिमुञ्च' का अर्थ होता है 'तू पहन', अतः गदाधरजी यहाँ छान्दस पुरुषव्यत्यय की क्लिष्ट कल्पना करते हैं। परन्तु प्रकृत मन्त्र से एकवाक्यता करने पर उक्त अर्थ ठीक नहीं प्रतीत होता। यज्ञोपवीत पहनाना आचार्य का काम है। 'त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि' इसमें यह बात साफ़-साफ़ कही गई है। अतः 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' में 'पुरुषव्यत्यय' का कुछ काम नहीं, और उसका वही अर्थ युक्ति-युक्त है, जो हम इस लेख के आरम्भ में लिख आए हैं।

आयु, बल और तेज किस प्रकार प्राप्त होता है, यह बात ऊपर के वर्णन से समझी जा सकती है। ब्रह्मचर्य-दशा में ब्रह्मचारी अपने में किस प्रकार शक्तियों का सञ्चय करता है, इसका ज्ञान हो जाने पर प्रकृत मन्त्र का अर्थ समझने में देर न लगेगी। फिर यह प्रश्न ही न उठेगा कि "जनेऊ के इन तीन तारों में ऐसी कौन-सी बात है जो आयु, तेज और बल दिया करती है ?"

अब रही यह बात कि यज्ञोपवीत पहननेवालों में ऐसे कितने

हैं, जो दीर्घायु, बलिष्ठ और तेजस्वी हों? इसका उत्तर भी एक प्रकार से दिया जा चुका है। यह ठीक है कि कसरत करने और कुश्ती लड़ने से शारीरिक शक्ति बढ़ती है; परन्तु यदि कुछ लोग किसी अखाड़े का सिर्फ़ गंडा अपने गले में बाँध लें और कसरत एक दिन भी न करें, इसीलिये शारीरिक उन्नति भी न कर सकें, फिर उन्हें दिखाकर यदि कोई पूछे कि इन गंडा बाँधनेवालों में ऐसे कितने हैं जो शारीरिक शक्ति से पूर्ण हों, तो उसका क्या उत्तर होगा? यज्ञोपवीत जिस 'दीर्घसत्र' का प्रतिज्ञा-सूत्र है, यज्ञोपवीत पहनकर जिस दीर्घसत्र को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की जाती है, यदि कोई उसे पूरा न करे, केवल यज्ञोपवीत लटकाए फिरे और दीर्घसत्र का नाम भी न ले, यहाँ तक कि सन्ध्या और गायत्री तक से पराङ्मुख हो जाय एवं इसी कारण बलहीन, तेजोहीन, रोगी और अल्पायु भी हो, तो दोष किसका? उसे दिखाकर यज्ञोपवीत पर कैसे दोषारोप किया जा सकता है? प्रतिज्ञा-सूत्र पहननेवाला यदि अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करने के कारण पथभ्रष्ट हो जाय, तो बेचारे प्रतिज्ञा-सूत्र का क्या क़ुसूर? यह तीन तार का दुर्बल सूत्र इस साढ़े तीन हाथ के कर्म-हीन जानवर को कैसे ऊपर घसीटे? हाँ, इस निर्लज्ज के गले में पड़कर सड़ते रहने के कारण बेचारा यज्ञसूत्र लज्जित अवश्य होता होगा।

× × × ×

ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम हैं। अप्रकृत होने के कारण यहाँ हम उनकी चर्चा न चलावेंगे। हाँ, इतना अवश्य कहना है कि ब्रह्मचर्य के समय जिस 'दीर्घसत्र' (लंबे यज्ञ) की बात प्रकृत वेद-मन्त्र—'दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्य-मुपैति'—इत्यादि में कही है, उसके ये भी अङ्ग हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ, इन तीन आश्रमों में यह दीर्घसत्र पूरा होता है।

ब्रह्मचर्य के आरम्भ में पहना हुआ यज्ञ-सूत्र वानप्रस्थ के अन्त में उतार दिया जाता है। जिन तीन आश्रमों की सूचना देने के लिये तीन तारवाला यज्ञोपवीत धारण किया था—जिस आश्रमत्रय की पूर्ति करने की प्रतिज्ञा में यह सूत्रत्रय धारण किया गया था—उन आश्रमों के बाद, प्रतिज्ञा पूरी होने पर, वह उतार दिया जाता है। अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाने के बाद मुसाफ़िर अपना टिकट देकर स्टेशन के बाहर हो जाता है।

× × × ×

ब्राह्मण-ग्रन्थ में लिखा है—

"जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते,
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति।"

ब्राह्मण शब्द यहाँ द्विज का वाचक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, तीन ऋणों से ऋणी ही पैदा होते हैं। जन्म से ही तीनों ऋण इनके साथ लगे रहते हैं। इनका नाम है ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण। ब्रह्मचर्य धारण करके, ऋषियों के बनाए वेद-वेदांगों का स्वाध्याय करके उन ऋषियों के ऋण से उद्धार होता है, जिन्होंने सैकड़ों वर्षों की तपस्या और समाधि के बल से ज्ञानराशि—ग्रन्थरत्न—इसके लिये सञ्चित कर रक्खे हैं। यज्ञों के द्वारा देवताओं के ऋण से और सन्तान उत्पन्न करके पितरों के ऋण से मुक्त होता है। ये तीनों ऋण पूर्वोक्त तीनों आश्रमों में पूर्ण हो जाते हैं। इनसे उद्धार होकर—तीन ऋण-बन्धनों से मुक्त होकर—उनके सूचक तीन तारवाले यज्ञोपवीत से भी अपने को मुक्त कर लेता है।

अब तक हमने 'उपनयन', 'आचार्य-करण', 'व्रतबन्ध' इत्यादि पर विचार किया। 'यज्ञ-सूत्र' और 'यज्ञोपवीत' शब्द भी किसी विशेष भाव के द्योतक हैं। जो सूत्र यज्ञ-विशेष में धारण किया

जाता है और किसी यज्ञ की पूर्ति के लिये ही जिसका धारण करना अपेक्षित है, उसे यज्ञ-सूत्र या यज्ञोपवीत कहते हैं। यह यज्ञ-सूत्र ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ, इन तीन आश्रमों की पूर्ति का प्रतिज्ञा-सूत्र है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीन ही वर्णों से इसका सम्बन्ध है। शूद्र वर्ण और संन्यास-आश्रम से इसे कोई तअल्लुक़ नहीं। यह तीन वर्णों और तीन आश्रमों में ही सीमाबद्ध है। यज्ञोपवीत के तीन तार इसी बात के सूचक हैं। वे अपना सम्बन्ध इन्हीं तीन वर्णों और तीन आश्रमों से बताते हैं।

× × × ×

वैदिक सिद्धान्तों में एक विशेषता है। वे जिस प्रकार समष्टि में संघटित होते हैं, उसी प्रकार व्यष्टि में भी होते हैं। जाति और व्यक्ति में समानरूप से समन्वित होते हैं। जो बात ब्रह्माण्ड में दीखती है वही पिण्ड में भी। हाँ, एक जगह विस्तृत है तो दूसरी जगह संक्षिप्त। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जिस प्रकार संसार में दीखते हैं, उसी प्रकार एक पिण्ड (शरीर) में भी मौजूद हैं। वेद में लिखा है—

> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
> ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां ँ शूद्रो अजायत।

ब्राह्मण ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय बाहुओं से, वैश्य जंघाओं से और शूद्र पैरों से। यदि किसी समाज को विराट् पुरुष के रूप में मान लिया जाय, तो ब्राह्मण उसके मुखस्थानापन्न हैं और क्षत्रिय बाहुस्वरूप हैं। वैश्य उसकी कमर हैं और शूद्र पैर। इसी बात को एक पिण्ड में भी देख लीजिए। मनुष्य का मुख ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय हैं। पेट उसका वैश्य है, तो पैर शूद्र हैं। मुख और ब्राह्मण की समानता भी ज़रा समझ लीजिए। ब्राह्मण को सम्पूर्ण ज्ञान का अधिष्ठाता होने पर भी लोभ और

परिग्रह से हीन होना चाहिए। यदि ब्राह्मण ज्ञानहीन या लोभी हो जाय, तो वह केवल अपना ही नहीं, सम्पूर्ण समाज का अनिष्ट करता है। अब मुँह की ओर देखिए। हाथों, पैरों और पेट की अपेक्षा आकार में तो वह ज़रूर छोटा है, परन्तु ज्ञान के सम्पूर्ण साधन उसी के पास हैं, और कहीं नहीं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं। इन्हीं से सब प्रकार का ज्ञान होता है। इनका नाम है चक्षु, श्रोत्र, नासिका, जिह्वा और त्वचा।

यदि आप किसी वस्तु को देखना चाहें, तो उसका साधन (आँख) कहाँ? मुख में। सुनने की इन्द्रिय (कान) कहाँ? वहीं। रस (खट्टा, मीठा आदि) का स्वाद लेने और सूँघने की शक्ति कहाँ? उसी जगह। बोलने की शक्ति कहाँ? वहीं। यद्यपि त्वचा समस्त शरीर में है और गर्मी, सर्दी, कोमलता और कठोरता का ज्ञान भी अन्य अवयवों से होता है, परन्तु ज्ञान के सम्पूर्ण साधन मुख के सिवा और किसी अङ्ग में नहीं। इसी कारण मुख को ब्राह्मण कहा गया है। कई अवसरों पर मनुष्य अपने अन्य अङ्गों को अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से आच्छादित करता है; परन्तु ज्ञान के आकर इस ब्राह्मण (मुख) को बिलकुल खुला छोड़ देता है। यदि आँखें ढक दें, तो देखना बन्द। कान ढक दें, तो सुनना बन्द। मुँह ढक दें, तो बोलना ख़तम, और कहीं नाक बन्द कर दें, तो सूँघने के साथ-साथ दम भी ख़तम। बाहर जाते समय और शरीर की तरह यदि मुँह भी कपड़े से लपेट दिया जाय, तो केवल मुख का ही अनिष्ट न हो, बल्कि सम्पूर्ण शरीर गड्ढे में जा पड़े—ठीक उसी तरह, जैसे ब्राह्मण के ज्ञानहीन और लोभी होने पर सम्पूर्ण समाज अधोगति को प्राप्त होता है।

एक बात और देखिए। आपके शरीर को ख़ुराक कौन पहुँ-

चाता है ? मुँह। भोजन की परीक्षा करना और उसे शरीर के उपयुक्त बनाना मुँह का काम है। बासी, सड़े, बुसे और अहित-कर भोजन की परीक्षा कौन करता है ? वही मुँह। अहित वस्तु को थूक देना और हितकर भोजन को चबाकर शरीर के उपयुक्त बनाना मुख का काम है। यदि मुख विना ही चबाए बड़े-बड़े टुकड़े गले के भीतर ढकेल दे, तो फल क्या हो ? पहला ही ग्रास छाती में जाकर अटक जाय और पिछला खाया-पिया भी सब बाहर निकल पड़े। ब्राह्मण का काम है कि बाहर से आकर अपने समाज में खपनेवाली वस्तुओं पर कड़ी नज़र रक्खे। अहितकर वस्तुओं को अन्दर न आने दे, और हितकर वस्तुओं को भी अपने समाज में हज़म होने लायक़ बनाकर अन्दर भेजे, वाहरी ज्ञान पर आत्मीयता की छाप लगा दे। परन्तु यह कार्य राजशक्ति की सहायता के विना सम्भव नहीं। पिण्ड में हाथों की सहायता और ब्रह्माण्ड में राजशक्ति की सहायता आवश्यक है। राजशक्ति भी वह, जो अपने बाहुओं की तरह अपने ही शरीर का अङ्ग हो, विलायती गवर्नमेन्ट नहीं। इसके बिना विलायत से आनेवाली अनिष्टकारी उच्छृङ्खलता को रोकना और हिन्दी के वर्तमान अनेक 'सम्राटों' के वमन से उत्पन्न गन्दगी को साफ़ करना सम्भव नहीं। हाँ, तो मुख का काम है कि हितकर वस्तु को शरीर के उपयुक्त बनाकर अन्दर भेजे। यदि मुख में लोभ उत्पन्न हो जाय और वह खाई हुई वस्तु को अपने में ही रखना चाहे, गले के नीचे न उतरने दे, तो फल क्या हो ? केवल मुख का ही नहीं, समस्त शरीर का अनिष्ट हो। यदि मुख में से हित-अहित खाद्य की परीक्षा करने की शक्ति जाती रहे, तब भी यही परिणाम हो। ब्राह्मण में से यदि ज्ञान जाता रहे और उसमें लोभ आदि पैदा हो जायँ, तो समाज का

भी यही हाल हो। यही कारण है कि उक्त वेद-मन्त्र में मुख को ब्राह्मण कहा है। इसी प्रकार आगे भी विचार करने पर मुख और ब्राह्मण में अनन्त सादृश्य पाइएगा।

अब बाहुओं को देखिए। इन्हें क्षत्रिय बताया है। यदि सिर पर लाठी पड़ने लगे, तो उसे रोकने के लिये आगे कौन बढ़ेगा? बाहु। यदि पैर में काँटा लगे, तो उसे निकालने कौन चलेगा? बाहु। यदि कमर पर से धोती खिसकने लगे, तो उसे पकड़ने कौन दौड़ेगा? वही बाहु। इस प्रकार समस्त शरीर की रक्षा का भार बाहुओं पर है। इसी प्रकार ब्राह्मणों, शूद्रों और वैश्यों की रक्षा का भार क्षत्रियों पर है। दण्ड, मुग्दर, लाठी, पटा, बनेठी आदि समस्त कसरतों का प्रधान आधार बाहु ही है। यदि ये कसरत छोड़कर दुर्बल हो जायँ, तो सिर पर जूतियाँ पड़ने लगें। क्षत्रियों की दुर्बलता का फल ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक को भोगना पड़े। इसी प्रकार आगे भी समझ लीजिए।

सिर ब्राह्मण और बाहु (छाती भी इसी के अन्तर्गत है) क्षत्रिय हुए। इससे नीचे का हिस्सा—पेट और कमर—वैश्य है। शरीर के काम की सब चीज़ें पेट में जमा होती हैं, और समाज के काम की सब चीज़ें वैश्यों में जमा होती हैं। आँख ने उत्तम भोजन देखा और हाथ ने उठाया। मुँह ने चबाया और गले ने नीचे उतारा। पर वह जमा कहाँ हुआ? पेट में। सब शरीर के पालन-पोषण की सामग्री का केन्द्र कौन है? वही पेट। यदि पेट ख़ाली हो जाय, तो आखें तिलमिलाने लगें, सिर चक्कर खाने लगे और टाँगें लड़खड़ाने लगें। वैश्यों के दरिद्र होते ही समस्त समाज धड़ाम से नीचे आ गिरता है। पेट का काम है कि बाहर से आई हुई सामग्री का संस्कार और परिवर्तन करके उसे सम्पूर्ण शरीर के पालन-पोषण के योग्य बनाये और वैश्यों

का काम है कि बाहर से ली हुई वस्तु को परिवर्तित—परिवर्धित करके उसके सारभाग से अपने समाज (चारों वर्णों) का पोषण करने के अनन्तर फ़ालतू या फ़ाज़िल बची हुई वस्तु को बाहर निकालें। केवल बाहरी वस्तुओं का एजेंट बननेवाला और उन्हें उसी रूप में अपने समाज में फैलानेवाला आदमी सच्चा वैश्य नहीं। और जो सट्टेबाज़ी से व्यापार को दूषित तथा समाज को जर्जर करता है, वह समाज का शत्रु एवं वैश्य जाति का कलङ्क है। एक बात और है। सब शरीर यदि नङ्गा हो जाय, तो उतना हर्ज नहीं, परन्तु कमर पर कुछ-न-कुछ आवरण अवश्य चाहिए। जो आवरण मुख पर महादूषण है, वही यहाँ भूषण है। जो लोभ ब्राह्मण का दोष है, वही वैश्य-वृत्ति का एक आवश्यक अङ्ग है। कमर से आवरण हटते ही निर्लज्जता का कलङ्क आरोपित होता है।

अब और नीचे उतरिए। पैर शूद्र हैं। समस्त शरीर (या समाज) का भार इन्हीं पर अवलम्बित है। इनके विना ऊपर के सब अङ्ग बेकार हैं। ये यदि मज़बूत नहीं तो शरीर का पतन अनिवार्य है इत्यादि। वैदिक वर्ण-धर्म का यह संक्षिप्त चरित है। वर्णाश्रमधर्म ही भारतवर्ष की विशेषता है। वेदों के समय में भी यहाँ ब्राह्मण आदि वर्ण मौजूद थे और उनके गुण, धर्म, कर्तव्य आदि भी निर्धारित थे, यह बात पूर्वोक्त वेद-मन्त्र का मनन करने से स्पष्ट हो जाती है। साथ ही एक बात और भी सिद्ध होती है। जिस प्रकार मुख, बाहु और ऊरु आदि परस्पर सापेक्ष हैं, एक के विना दूसरा बेकार है, उसी प्रकार ब्राह्मण आदि भी परस्पर सापेक्ष हैं। समाज में सभी अङ्गों की आवश्यकता है। अपने-अपने स्थान पर सभी अपेक्षित हैं। न किसी के विना काम चल सकता है, न एक की जगह दूसरा बिठाया जा सकता है। शूद्र को क्षत्रिय और वैश्य को ब्राह्मण बनाना उक्त वैदिक

मन्त्र को अभीष्ट नहीं। मुख आदि का सादृश्य ही इसका प्रमाण है। सब अङ्गों के कार्य और उनके वस्त्र-आभूषण आदि अलग-अलग हैं। इनको यथास्थान रखने में ही प्रतिष्ठा और मर्यादा है। इधर का उधर करने में किसी अङ्ग की प्रतिष्ठा तो बढ़ नहीं सकती, हाँ, काम में गड़बड़ और लोग-हँसाई अवश्य हो सकती है। जूते पहनने से पैरों की अप्रतिष्ठा है, इसलिये उनमें सिर की पगड़ी लपेट दी जाय। कमर की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये—वैश्यों को ब्राह्मण बनाने के लिये—उसे मुँह की तरह बिलकुल नङ्गा छोड़ दिया जाय, और पैरों के जूते पगड़ी की जगह रख दिये जायँ। यदि इस शकल से कोई बाज़ार में निकले, तो क्या गति हो? ब्राह्मणों के अत्याचार की दुहाई देकर वर्णाश्रम-धर्म में गड़बड़ मचानेवालों को इस मन्त्र से कुछ शिक्षा लेनी चाहिए। ब्राह्मण मुख है। मुख को ईश्वर ने सब शरीर के ऊपर बनाया है और पैरों को सबसे नीचे। यदि यह अत्याचार है, तो पैरों को ऊपर करके देख लीजिए। पानी में सब शरीर डूब जाय और सिर ऊपर बना रहे, तो कुछ हर्ज नहीं, परन्तु सिर डूब जाने पर बाक़ी शरीर ऊपर रहकर भी बेकार है। सोने के समय सिर कुछ ऊँचा रहना ही चाहिए। आरोग्य इसी में है। यह ईश्वरीय नियम है। एक ही शरीर के सब अङ्ग होने पर भी सबके कार्य भिन्न-भिन्न हैं। अपना-अपना कार्य करने में किसी की अप्रतिष्ठा नहीं, बल्कि दूसरे के कार्य में अनधिकार चेष्टा करने से ही सबका सर्वनाश सम्भावित है। जिस प्रकार पैर, मुख नहीं बन सकता, इसी प्रकार शूद्र आदि का ब्राह्मण बनना भी वेदविरुद्ध है।

ब्राह्मण होने के लिये तीन बातें आवश्यक हैं। तपस्या, शास्त्र-ज्ञान और जन्म अर्थात् ब्राह्मण पिता से ब्राह्मणी माता में उत्पत्ति—

'तपः श्रुतं च योनिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥'

तपस्, श्रुत और योनि (जन्म) ये तीन ब्राह्मणत्व के कारण हैं। जो तपस्या और शास्त्र से हीन है, वह केवल जाति-मात्र का ब्राह्मण है। यह ब्राह्मण की निन्दा है। केवल जाति से ब्राह्मण होना निन्दित है। उसमें तपस्या और शास्त्र होना ही चाहिए। इन्हीं से उसकी प्रतिष्ठा है, अन्यथा नहीं।

इसका यह मतलब नहीं कि वैदिक काल में इन चार वर्णों के अतिरिक्त कोई जातियाँ या उपजातियाँ थी ही नहीं, या यह कि उस समय मनुष्यों के शरीरों में मुख, बाहु, ऊरु और चरणों के सिवा अन्य अङ्ग होते ही न थे। अन्य अनेक जातियों का स्पष्ट उल्लेख यजुर्वेद में ही मौजूद है, और पूर्वोक्त केवल चार अङ्गों-से किसी प्राणी का जीवित रहना असंभव है। मल-मूत्र आदि के त्याग के लिये शरीर में अस्पृश्य अङ्गों (गुदोपस्थ) की भी अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। जिस प्रकार शरीर में अस्पृश्य अङ्गों की आवश्यकता है, इसी प्रकार समाज में भी। जैसे इन अस्पृश्य अङ्गों के विना कोई शरीर जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार अस्पृश्य जातियों के विना कोई समाज भी टिक नहीं सकता। ये समाज के आवश्यक और अनिवार्य अङ्ग हैं, साथ ही अत्यन्त कोमल तथा असहिष्णु भी। इनकी समुचित रक्षा का प्रबन्ध करना सम्पूर्ण समाज का धर्म है। विरोधियों से इन्हें बचाये रखना परम कर्तव्य है।

आजकल समय के अनुसार अनेक सामाजिक और राजनीतिक कारणों से अस्पृश्य जातियों के नाम पर एक आन्दोलन खड़ा हो गया है। इनमें कुछ कट्टरपन्थी लोग तो ऐसे हैं जो देवमन्दिर के अन्दर तो क्या, उससे कई गज़ दूर की सड़कों पर भी अछूत जातिवालों को जाने देना पाप समझते हैं और दूसरी ओर कुछ सुधारकम्मन्य लोग ऐसे हैं जो विना किसी रोक-टोक के देवमूर्ति का स्पर्श, उस पर जल चढ़ाने आदि के

सब अधिकार अछूतों को दे देना चाहते हैं। अनेक सज्जन ऐसे भी हैं जो अछूतों के समस्त प्रतिबन्धों को अशास्त्रीय और अमान्य सिद्ध कर देना चाहते हैं।

वेदों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उनमें थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ सन्निविष्ट रहता है। प्रकृत वेदमन्त्र पर ध्यान देने से इस अछूत-आन्दोलन पर भी बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है। जो लोग दूर-दूर की सड़कों पर या मन्दिर के समीप अछूतों के चले जाने से देव-मूर्ति या देव-मन्दिर के अपवित्र होने की दलीलें या प्रमाणाभास (प्रमाण नहीं) पेश करते हैं उन्हें सोचना चाहिये कि तीर्थस्नान के समय वे अपने अस्पृश्य अङ्गों को साथ ले जाते हैं या उन्हें घर पर ही रख जाते हैं। जब अस्पृश्य अङ्ग साथ ही लगे रहने पर भी उनका शरीर पवित्र हो सकता है तो देव-मन्दिर तक अछूतों के चले जाने से मन्दिर कैसे अपवित्र हो जायगा ? क्या देव-दर्शन के समय ये अङ्ग (अस्पृश्य) साथ नहीं रहते ?

दूसरी ओर सुधारवादियों से भी हम एक बात पूछना चाहते हैं। माता, पिता, गुरु या देवता का अर्चन-वन्दन करते समय सब लोग अपना सिर उनके चरणों पर रखते हैं। वेद ने सिर को ब्राह्मण कहा है। क्या सुधारवादी सज्जन यह बताने की कृपा करेंगे कि वे लोग अपने माता, पिता या गुरु आदि की पूजा करते समय जिस प्रकार अपना सिर उनके चरणों पर रखते हैं, उसी प्रकार अपने अस्पृश्य अङ्गों को वहाँ रखना पसन्द करेंगे या नहीं ?

वेद ने थोड़े में सब कुछ कह दिया है। जैसे शरीर में सब अङ्गों की सीमा, मर्यादा, अधिकार और कार्य विभक्त हैं उसी प्रकार समाज में भी होना चाहिये। एक के स्थान पर दूसरे को धर घसीटने से अव्यवस्था और गड़-बड़ मचना अनिवार्य

है। वैश्यों को ब्राह्मण बनाने की चेष्टा भी वैसी ही है जैसा पेट को सिर बनाने का उद्योग। शरीर के दृष्टान्त से ही यह बात स्पष्ट है। अछूत जातियों को न तो समाज से बहिष्कृत करना ही श्रेयस्कर होगा और न उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रियों की समानता देने से ही सामाजिक व्यवस्था स्थिर रह सकेगी, यही प्रकृत वेदमन्त्र का तात्पर्य है।

× × ×

प्रकृत वेद-मन्त्र की व्याख्या करते-करते हम बहुत दूर निकल गए। क्षमा कीजिए। प्रकृत यज्ञोपवीत पर ध्यान दीजिए। यज्ञोपवीत पहनने के प्रकरण में लिखा है कि कमर से नीचे यज्ञोपवीत न जाना चाहिए—

पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्।
वामस्कन्धे धृते नाभिहृत्पृष्ठवंशयोर्धृतम्।
स्तनादूर्ध्वमधो नाभेर्न धार्यं तत्कथंचन।

बाएँ कन्धे से कमर तक यज्ञोपवीत होना चाहिए। पृष्ठवंश और नाभि की ओर होकर जो कमर तक पहुँचे, वही धारण करना चाहिए। इससे नीचा या ऊँचा नहीं। स्तन से ऊँचा और नाभि से नीचा कदापि न पहने।

अब इस बात को पूर्वोक्त वेद-मन्त्र के साथ मिलान करके देखिए। शरीर में कमर तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये तीनों वर्ण समाप्त हो चुके। यज्ञोपवीत भी इन्हीं के साथ समाप्त हो चुका। जहाँ तक द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीनों वर्णों की सीमा है, वहीं तक यज्ञोपवीत की भी सीमा है। कमर से नीचे शूद्रों की सीमा है, वहाँ इसका प्रवेश निषिद्ध है। "अधोनाभेर्न धार्यं तत्कथंचन।" यज्ञोपवीत के तीन तार तीन वर्णों में ही परिच्छिन्न हैं। शरीर में जहाँ तक उन तीन वर्णों की हद है, वहीं तक यज्ञोपवीत के तीनों तार भी सीमाबद्ध हैं।

जो महाशय सब वर्णों को यज्ञोपवीत पहनाने के शौक़ीन हैं, उन्हें चाहिए कि अपने यज्ञोपवीतों में कम-से-कम चार-चार तार अवश्य बनवाया करें और उन्हें शरई पाजामे की तरह टख़नों तक नीचा भी किया करें।

शौच आदि के समय यदि यज्ञोपवीत ऊपर (कान पर) न किया जाय, तो उसके पैरों से छू जाने और गंदी छींटें पड़ जाने की आशंका रहती है, इसी से उसे कान पर लपेटकर ऊँचा किया जाता है। कहीं-कहीं सिर से लपेटने की भी प्रथा है। जो लोग नाभि से ऊँचा उपवीत कर लेते हैं, वे उसे कान पर नहीं भी चढ़ाते।

× × × ×

छान्दोग्य-उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में 'पञ्चाग्नि-विद्या' के नाम से एक प्रकरण आया है। इसकी विवेचना गम्भीर भी है और विस्तृत भी। परन्तु यहाँ हम उसका संक्षिप्त तथा सरल परिचय देंगे। वहाँ लिखा है—"इति तु पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति।" अर्थात् इस प्रकार पाँचवीं आहुति में जल, पुरुष रूप हो जाते हैं। इसके पूर्व पाँच अग्नियों का विस्तृत वर्णन है और साथ ही यह भी बताया है कि यथाक्रम प्रत्येक अग्नि में पहुँचकर अन्त्य में जल को पुरुष का रूप कैसे प्राप्त होता है। इन पाँचों अग्नियों और उनकी आहुति आदि का परिचय इस प्रकार है—

आरुणि गौतम ने राजा जैवलि से पञ्चाग्नि-विद्या की जिज्ञासा की। उन्होंने उत्तर दिया कि सबसे प्रथम अग्नि यही द्युलोक है—

"असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति।"

अर्थ—हे गौतम, यह द्युलोक अग्नि है। आदित्य उसकी समिधा है, किरणें धूम हैं और दिन उसकी अर्चि (ज्योति=

लपट) है । चन्द्रमा उसका अङ्गार और तारागण विस्फुलिङ्ग (अग्नि-कण) हैं । इस अग्नि में देवता लोग श्रद्धा की आहुति देते हैं । उससे राजा सोम (चन्द्रमा) उत्पन्न होता है ।

यह आलङ्कारिक वर्णन है । इसका तात्पर्य समझने के लिये उपमान और उपमेय के साधारण धर्मों पर ध्यान देना पड़ेगा। समिधा अग्नि को दीप्त करने का साधन है । उसी से अग्नि दीप्त होती है । द्युलोक को दीप्त कौन करता है ? सूर्य । इसी कारण सूर्य को यहाँ समिधा कहा है । अग्नि में समिधा डालने पर पहले उसमें से धूम निकलता है, फिर लपट उठती है। लपट के शान्त होने पर अङ्गार और अग्नि-कण शेष रहते हैं एवं समिधा से प्रदीप्त अग्नि में जो आहुति दी जाती है, उसका कुछ फल अवश्य होता है । उसी फल के लिये वह आहुति दी जाती है। द्युलोकरूप अग्नि में जब आदित्यरूप समिधा पड़ी, तो उसमें से अनेक रङ्ग की (नीली, पीली, लाल) किरणें निकलीं। यही उस समिधा का धूम हुआ, और दिन का श्वेत प्रकाश उस समिधा की अर्चि (ज्योति) हुई । इस अर्चि के शान्त होने पर अर्थात् दिन समाप्त होने पर चन्द्रमा और तारों के दर्शन हुए । इन्हीं को अङ्गार और विस्फुलिङ्ग बताया ।

अङ्गार की उत्पत्ति समिधा से होती है और चन्द्रमा की उत्पत्ति सूर्य से । सूर्य की सुषुम्ना-नामक किरणों से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है । उसका अपना प्रकाश नहीं है । इसी से यहाँ चन्द्रमा को सूर्य का अङ्गार बताया है ।

इस अग्नि में देवता लोग 'श्रद्धा' की आहुति देते हैं । यहाँ 'श्रद्धा' से क्या मतलब ? आत्मा या मन के जिस धर्म को श्रद्धा कहते हैं उसकी आहुति देना सम्भव नहीं । श्रद्धा कोई ऐसी वस्तु नहीं जो शरीर से खींचकर निकाली जा सके या उसकी आहुति दी जा सके । फिर श्रद्धा क्या है ? ब्रह्म-सूत्र, तृतीय

अध्याय के प्रथम चरण के आरम्भ में ही शारीरक भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य ने इस प्रश्न की विवेचना की है। वहाँ पाँचवें सूत्र के भाष्य में लिखा है कि 'श्रद्धा' शब्द वैदिक साहित्य में जल के लिये प्रयुक्त होता है। "श्रद्धाशब्दश्चाऽप्सूपपद्यते, वैदिक-प्रयोगदर्शनात् श्रद्धा वा आप इति।"

इसी प्रकरण में जीव की उत्तर-गति और दक्षिण-गति का भी विचार किया है। छान्दोग्य-उपनिषद् में भी इसकी चर्चा है। वहाँ लिखा है कि जो लोग अरण्य में रहनेवाले—वानप्रस्थ, संन्यासी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी—श्रद्धापूर्वक तपस्या करते हैं, उन्हें उत्तर-गति प्राप्त होती है। वे (मरने पर) सूर्य की किरणों द्वारा आदित्य-लोक में पहुँचकर वहाँ से ब्रह्मलोक या ब्रह्मरूप को प्राप्त होते हैं, और जो लोग गृहस्थ रहकर यज्ञ, होम, दान आदि धर्मकृत्यों का अनुष्ठान करते हैं, वे (मरने पर) यज्ञधूम की अभिमानिनी देवता के द्वारा पितृलोक में पहुँचते हैं, और वहाँ से चन्द्रलोक (स्वर्ग) में जाते हैं। वहाँ अपने शुभ कर्मों का उपभोग करने तक रहते हैं और इसके अनन्तर फिर जन्म लेते हैं। परन्तु उत्तर-गति से गए हुए लोग फिर नहीं लौटते। देखिए—

"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान् ॥१॥ मासेभ्यः संवत्सरꣳसंवत्सरादादित्यच्चन्द्रमसं चन्द्रमसोविद्युतं तत्पुरुषोमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

अथ य इमे ग्रामइष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳरात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥ मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम् एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥ तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमध्वानं पुनर्निवर्तन्ते।"

भगवद्गीता के आठवें अध्याय में इन्हीं दोनों—उत्तर-गति

और दक्षिण-गति—को शुक्ल-गति और कृष्ण-गति कहा है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

(गीता, ८ अ०)

जो लोग ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) नहीं हैं, बल्कि गृहस्थ-आश्रम में रहकर यज्ञ, हवन आदि नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, उनके अग्नि-होत्र, दर्श, पौर्णमास आदि धार्मिक कृत्यों में घी, दूध, दही आदि पतले द्रव्यों में जो प्रत्यक्ष जल का अंश है, वही आहुति देने पर अतिसूक्ष्म—अपूर्व-नामक संस्कार—के रूप को प्राप्त होकर इन जीवों के साथ लोकान्तर (स्वर्ग आदि) में जाता है। एक शरीर छोड़ने पर दूसरे लोक को जाता हुआ जीव इन्द्रिय आदि की तरह इन सूक्ष्म जलीय अंशों से भी परिवेष्टित रहता है, और यही इसके अगले कर्म-फल-भोग का निमित्त बनते हैं। यही बात पूर्वोक्त पञ्चाग्नि-विद्या के प्रकरण में 'श्रद्धां जुह्वति' से कही गई है। देवता लोग जिस श्रद्धा की आहुति देते हैं, वह यही यज्ञ, होम आदि में उपयुक्त होनेवाला घी, दूध, दही आदि द्रव्यों का जलीय अंश है। यही आहुति देने पर सूक्ष्म रूप से सूर्य की किरणों के द्वारा अन्तरिक्ष में पहुँचकर ज्योति और वर्षा आदि का कारण होता है। यही बात ब्रह्मसूत्र के शारीरक भाष्य में इस प्रकार लिखी है—"तेषां चाऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूता दधिपयःप्रभृतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात्प्रत्यक्षमेवाऽऽपः सन्ति ता आहवनीये हुताः सूक्ष्मा आहुतयोऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिण आश्रयन्ति। तेषां च शरीरं नैधनेन विधानेनान्त्ये अग्नौ ऋत्विजो जुह्वति—'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा'—इति। ततस्ताः श्रद्धापूर्वककर्मसमवायिन्य आहुतिमय्य आपो

ऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिणो जीवान् परिवेष्ट्याऽमुं लोकं फलदानाय नयन्तीति यत् तदत्र जुहोतिनाऽभिधीयते—'श्रद्धां जुह्वति'—इति। ब्रह्मसूत्र ३ अध्याय, १ पा०, ६ सू०।"

जो लोग गृहस्थ हैं, सन्तान आदि उत्पन्न करते हैं, उन्हीं के लिये श्राद्ध, पिण्ड-दान आदि की आवश्यकता होती है। 'श्रद्धा' का अर्थ जल है, और श्राद्ध में जल, दूध आदि के रूप में इसका प्रयोग होता है। परलोक में गए जीव के शरीर में सूक्ष्म रूप से इनका कैसा उपयोग है, यह बात अभी कही जा चुकी है।

देवता या पितरों को खाने पीने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि यज्ञ, श्राद्ध आदि को देखकर ही वे तृप्त होते हैं, और उसके अति सूक्ष्म रूप उन तक पहुँचते हैं। दक्षिण-मार्ग से जानेवाले पहले वसु, रुद्र, आदित्य इन तीन श्रेणियों को पार करते हैं, और बाद में मरुत्, साध्य नाम की दो श्रेणियों के अनन्तर ब्रह्मरूप को प्राप्त होते हैं। उत्तर-मार्ग से जानेवालों की तरह ये आवृत्ति-शून्य नहीं हैं। बीच में इनका जन्म भी हो सकता है, और होता है। हाँ, उक्त पाँच श्रेणियों को पार कर जाने के बाद फिर इनका जन्म नहीं होता, और तीन श्रेणियाँ पार कर जाने के बाद इन्हें पुत्रादि के किए श्राद्ध आदि की सहायता की भी आवश्यकता नहीं रहती। वसु, रुद्र, आदित्य इन तीन ही श्रेणियों में श्राद्धादि अपेक्षित होता है। इसी से श्राद्ध के समय सङ्कल्प में पिता, पितामह और प्रपितामह को क्रम से वसुस्वरूप, रुद्रस्वरूप और आदित्यस्वरूप कहा जाता है। इसी प्रकार मातामह आदि की तीन पीढ़ियों को कहा जाता है।

वैदिक साहित्य में मनुष्य के शरीर को षाट्कौषिक कहा है। इसमें छः पीढ़ियों का अंश कोषरूप से जमा रहता है। तीन पीढ़ी पितृपक्ष की और तीन पीढ़ी मातृपक्ष की, इन छः का कोष या ऋण मनुष्य के शरीर में विद्यमान रहता है। उसके उद्धार के

लिये ही इन छः पीढ़ियों का श्राद्ध, पिण्ड-दान आदि अपेक्षित होता है। पूर्वोक्त बात छान्दोग्य-उपनिषद्, तृतीय अध्याय में इस प्रकार कही है—

तद् यत्प्रथमममृतं तद् वसव उपजीवन्ति अग्निना मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवाऽमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥ त एतदेवरूपमभिसंविशन्ति एतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।......अथ यद् द्वितीयं रूपं तद्रुद्रा उपजीवन्ति इन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति। त एतदेव रूपमभिसंविशन्ति एतस्माद्रूपादुद्यन्ति......अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन......इत्यादि।

इस प्रकार इस प्रकरण से यह स्पष्ट हुआ कि उत्तर-गति और दक्षिण-गति से जीव परलोक में जाता है। उत्तर-गति से जानेवाले एकदम मुक्त होते हैं और दक्षिण मार्ग से जानेवाले वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवताओं (पितरों) की श्रेणियों को क्रम से पार करते हैं। श्राद्ध आदि की आवश्यकता इन्हीं के लिये होती है और 'श्रद्धा'-नामक सूक्ष्म जलीय अंशों के साथ इनका आत्मा लोकान्तर में जाता है। इन्हीं जलीय द्रव्यों को वैदिक साहित्य में 'श्रद्धा' के नाम से कहा जाता है, और पञ्चाग्निविद्या के पूर्वोक्त प्रकरण—'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति'—में श्रद्धा शब्द से जल का ही तात्पर्य है। इन सूक्ष्म जलीय अंशों से राजा सोम बनता है, अर्थात् सूर्य की किरणों से खींचे हुए इस जल से चन्द्रमा की शीतल, शान्त और जल-प्रधान किरणें सम्पन्न होती हैं।

यह प्रथम अग्नि की बात हुई, अब आगे चलिए—

पर्जन्यो वाव गौतमाऽग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा सोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षꣳसम्भवति। छान्दोग्य, ५ अ०, ५ खं०।

हे गौतम, दूसरी अग्नि पर्जन्य (बादलों के आरम्भक सूक्ष्म

कण या उनकी अभिमानिनी देवता) है । वायु (वर्षा की उपकारक पूर्व की वायु या उसके समान अन्य वायु) उसका समिधा है । अभ्र (बादल) धूम है, बिजली अर्चि है, अशनि अङ्गार और गर्जन उसके विस्फुलिङ्ग हैं । इस अग्नि में देवता लोग राजा सोम की आहुति देते हैं । उससे वृष्टि उत्पन्न होती है ।

तीसरी अग्नि पृथ्वी है । उसमें वृष्टि की आहुति दी जाती है । उससे अन्न पैदा होता है ।

चौथी अग्नि पुरुष है । इसमें अन्न की आहुति दी जाती है । उससे वीर्य पैदा होता है ।

पाँचवीं अग्नि स्त्री है । इसमें वीर्य की आहुति दी जाती है और उससे गर्भ उत्पन्न होता है । इस प्रकार सूर्य की किरणों द्वारा खींचे गए—या देवताओं द्वारा आहुति दिए गए—जल का यथाक्रम परिवर्तन होते-होते पाँचवीं आहुति में उससे पुरुष बनता है । यही पहले कहा था कि पाँचवीं आहुति में पहुँचकर जल पुरुष का रूप धारण करता है ।

पहली अग्नि में आहुति देने से जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसी की दूसरी अग्नि में आहुति दी जाती है । इस प्रकार पाँचवीं आहुति का परिणाम पुरुष-रूप होता है । पहले द्युलोक में 'श्रद्धा' (जल) की आहुति देने से सोम (चन्द्रमा या उसकी किरणें) पैदा हुई । उनकी आहुति पर्जन्य में दी गई, जिससे वृष्टि पैदा हुई । वृष्टि की आहुति पृथ्वी में दी गई, जिससे अन्न हुआ । अन्न की आहुति पुरुष के जठरानल में देने से वीर्य बना और उसकी आहुति योषा (स्त्री) रूप अग्नि में देने से गर्भ हुआ । जीव के जन्मान्तर की यह संक्षिप्त कथा है । पूर्वोक्त ब्रह्मसूत्र के प्रकरण से स्पष्ट है कि एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते हुए जीव के साथ यही श्रद्धा-रूप जल का सूक्ष्म भाग जाता है । श्राद्ध में दिए हुए जल, पिण्ड आदि की

श्रद्धा (जल) भी उसके इसी सूक्ष्म शरीर का उपकार करती है। इसी के साथ पहले वह सूर्य की किरणों के साथ द्युलोक में जाता है। वहाँ से चन्द्रमा में, उससे मेघों में (या अन्तरिक्ष-लोक में), वहाँ से अन्न में, अन्न से वीर्य में और उससे फिर गर्भ में पहुँचता है। दक्षिण-मार्ग से जानेवाले गृहस्थों का यही क्रम है। अन्न में पहुँचने के बाद फिर अपने-अपने कर्मों के अनुसार जीवों को स्थावर-जङ्गम-रूप उत्तम, मध्यम और निकृष्ट योनियाँ प्राप्त होती हैं।

यह हम पहले कह चुके हैं कि श्राद्ध या पिण्ड-दान आदि की अपेक्षा इन्हीं दक्षिण-मार्गी जीवों को होती है। श्राद्ध का ही दूसरा नाम पितृयज्ञ है। देवयज्ञ को हव्य और पितृयज्ञ को कव्य कहते हैं। देवयज्ञ के कार्य प्रायः प्रातःकाल से दोपहर तक पूर्वाभिमुख किए जाते हैं और पितृयज्ञ के कार्य मध्याह्न के बाद दक्षिण दिशा की ओर मुँह करके किए जाते हैं। हव्य या देवयज्ञ में यज्ञोपवीत बाएँ कन्धे पर रखने का नियम है और पितृयज्ञ (श्राद्ध) में दाहने कन्धे पर। प्रातःकाल से दोपहर तक सूर्य उत्तर-पूर्व दिशा में रहता है। उसकी किरणें दक्षिण-पश्चिम की ओर नीची होती हैं और उत्तर-पूर्व की ओर ऊँची। मध्याह्न के समय यह बात बदल जाती है। उस समय सूर्य दक्षिण दिशा में पहुँचता है और किरणें उत्तर की ओर झुकी रहती हैं। इस समय किरणों का रुख़ दक्षिणाभिमुख रहता है और पूर्वाह्न में उत्तर-पूर्वाभिमुख। जिधर सूर्य है उसी ओर किरणें ऊँची होती हैं और पृथ्वी पर से किरणों द्वारा खींचा गया द्रव-द्रव्य—'श्रद्धा' आदि—उसी दिशा में आता है। यही कारण है कि उत्तर-मार्ग से देवलोक प्राप्त करनेवालों या इन्द्र आदि देवताओं के यज्ञ उसी समय (पूर्वाह्न में) किए जाते हैं, जब सूर्य की किरणें उत्तर-पूर्व की ओर ऊँची हों अर्थात् उनकी आकर्षण शक्ति से आकृष्ट

वस्तु उत्तर-पूर्व दिशा की ओर जा सके। इसी प्रकार पितृ-लोक—जिसकी स्थिति दक्षिण-दिशा में मानी जाती है—से सम्बन्ध रखनेवाले कार्य (श्राद्ध आदि) उस समय (मध्याह्न) में किए जाते हैं, जब सूर्य की किरणें दक्षिण की ओर उन्मुख हों।

पितृलोक की स्थिति दक्षिण में है। पूर्वोक्त दक्षिण गति से परलोक में जानेवाले इसी ओर जाते हैं। इनके लिये श्राद्ध आदि उसी समय किए जाते हैं, जब पृथ्वी पर से सूक्ष्म श्रद्धा (जल) का आकर्षण करनेवाली सूर्य की किरणें दक्षिण की ओर उन्नत हों और उसी समय यज्ञोपवीत भी दक्षिण कन्धे पर रखकर दक्षिण की ओर उन्नत किया जाता है। शारीरिक और मानसिक सूक्ष्म शक्तियों को दक्षिण की ओर उन्मुख करने के लिये, उन्हें सूर्य की किरणों के साथ एक दिशा में प्रेरित करने के लिये, वैदिक विधि के अनुसार अविगुण कर्म के द्वारा पितृ-यज्ञ का विशुद्ध 'अपूर्व' उत्पन्न करने के लिये और उसे दक्षिण-दिशा में (पितृलोक में) अवस्थित पितरों तक अविकल रूप से पहुँचाने के लिये पितृ-कार्य के समय यज्ञोपवीत का दक्षिण-स्कन्ध पर रखना आवश्यक है।

जिस प्रकार बे तार का तार भेजते समय एक स्थान की विद्युद्धारा को दूसरे स्थान पर ठीक-ठीक पहुँचाने के लिये बिजली के खम्भों का साम्मुख्य अपेक्षित है, उसी प्रकार देवलोक और पितृलोक के कार्यों में भी सूर्य की किरणों के साथ शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का एकमुखीभाव सम्पन्न करना आवश्यक है। जैसे बे तार का तार भेजते समय आकाश में प्रत्यक्षरूप से न बिजली दीखती है, न और कोई विकार, परन्तु उसका प्रभाव ठीक उसी स्थान पर पड़ता है जहाँ के खम्भे के साथ उसका एकमुखीभाव है, इसी प्रकार ठीक-ठीक स्वर-वर्णों के द्वारा उच्चारित वैदिक मन्त्रों से उत्पन्न हुई शक्ति, हव्य और कव्य के सूक्ष्म जलीय अंशों को सूर्य की किरणों द्वारा, अप्रत्यक्ष होने पर भी, अभीष्ट देवताओं या

पितरों तक पहुँचाती है । यज्ञोपवीत का उत्तर या दक्षिण की ओर उन्नत होना उसी कर्म का सहायक अङ्ग है । साधारण दशा में अपने में दैवी सम्पत्ति सञ्चित करने के अभिप्राय से यज्ञोपवीत को उत्तरोन्नत अर्थात् बाएँ कन्धे पर रखते हैं ।

× × × ×

छन्दोगपरिशिष्ट में यज्ञोपवीत का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

त्रिवृदूर्ध्ववृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम् ;
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते ।

× × × ×

यज्ञोपवीत बनाने और पहनने की विधि—

शुचौ देशे शुचिः सूत्रं संहतांगुलिमूलके ।
आवेष्ट्य षण्णवत्या तत् त्रिगुणीकृत्य यत्नतः ।
अब्लिङ्गकैस्त्रिभिः सम्यक् प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं च तत् ।
अप्रदक्षिणमावृत्य सावित्र्या त्रिगुणीकृतम् ।
अधः प्रदक्षिणावृत्तं समं स्यान्नवसूत्रकम् ।
त्रिरावेष्ट्य दृढं बद्ध्वा हरिब्रह्मेश्वरान्नमेत् ।
यज्ञोपवीतं परममिति मन्त्रेण धारयेत् ।
सूत्रं सलोमकं चेत्स्यात्ततः कृत्वा विलोमकम् ।
सावित्र्या दशकृत्वोऽद्भिर्मन्त्रिताभिस्तदुक्षयेत् ।
विच्छिन्नं वाऽप्यधोयातं भुक्त्वा निर्मितमुत्सृजेत् ।
स्तनादूर्ध्वमधो नाभेर्न धार्यं तत्कथञ्चन ।
ब्रह्मचारिण एकं स्यात् स्नातस्य द्वे बहूनि वा ।
तृतीयमुत्तरीयं वा वस्त्राभावे तदिष्यते ।
ब्रह्मसूत्रे तु सव्यांसे स्थिते यज्ञोपवीतिता ।
प्राचीनावीतिताऽसव्ये कण्ठस्थे तु निवीतिता । इत्यादि

इसका भावार्थ यह है कि पवित्र स्थान में पवित्रता के साथ यज्ञोपवीत बनावे । एक सूत्र को संहत (मिली हुई) उँगलियों

के मूल में छयानबे बार लपेटे। फिर उसी सूत्र को, बिना तोड़े हुए ही, त्रिगुणित करे। जल में धोकर या भिगोकर गायत्री-मन्त्र से बाईं ओर को ऐंठे, फिर त्रिगुण करके दाहिनी ओर को ऐंठे। इस प्रकार एक-एक सूत्र नौ-नौ तन्तुओं का बनावे। इसका फिर त्रिपुर (तीन लपेट) करके उसमें ब्रह्मपाश बनावे और 'यज्ञोपवीतं परमं' इस मन्त्र से पहने। यदि सूत्र में लोम (छोटे-छोटे रोएँ) हों, तो उन्हें साफ़ कर दे। दस बार गायत्री-मन्त्र से उस पर जल छिड़के। टूटे हुए, कटे हुए पैरों के नीचे से निकले हुए और भोजन करके बनाए हुए यज्ञोपवीत को त्याग दे। नाभि से नीचे और स्तन से ऊपर न पहने। ब्रह्मचारी एक यज्ञोपवीत पहने और गृहस्थ दो पहने। यदि अँगोछा न हो, तो तीसरा यज्ञोपवीत भी पहना जा सकता है। बाएँ कन्धे पर यज्ञोपवीत होने से 'यज्ञोपवीती', दाहने पर 'प्राचीनावीती' और गले में सीधा लटकाने से 'निवीती' कहलाता है।

अङ्गुलि-मूल में छयानबे आवृत्ति करने का तात्पर्य इस प्रकार कहा है—

> तिथिर्वारश्च नक्षत्रं तत्त्वं वेदा गुणत्रयम्।
> कालत्रयञ्च मासाश्च ब्रह्मसूत्रञ्च षण्णव।

तिथि (१५) बार (७) नक्षत्र (२८) तत्त्व (२४) वेद (४) तीन गुण (रजस्, तमस्, सत्त्व), तीन काल (भूत भविष्यत्, वर्तमान) और मास (१२) इनका सम्बन्ध और चिह्न द्योतित करने के लिये यज्ञोपवीत के मूल-सूत्रों की लम्बाई ९६ आवृत्तियों में पूरी की जाती है। ९६ बार लपेटे हुए इन तीनों सूतों को एक बार बट लेने के बाद फिर उसे त्रिगुण करके बटा जाता है, तब यज्ञसूत्र तैयार होता है। इस प्रकार यज्ञसूत्र नौ तार का होता है। 'यज्ञोपवीत-धारण-विधि' में इन नौ तारों के अधिष्ठातृ देवताओं का वर्णन इस प्रकार है—

१ २ ३ ४ ५ ६
ओंकारोऽग्निश्च नागश्च सोमः पितृप्रजापती ।
७ ८ ९
वायुः सूर्यश्च शर्वश्च तन्तुदेवा अमी नव ।

नवीन यज्ञोपवीत पहनने से पूर्व उसके प्रत्येक तन्तु में यथाक्रम इन देवताओं का आवाहन और पूजन किया जाता है। नौ तार के तीन सूत्रों में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का आवाहन-पूजन किया जाता है। ब्रह्मपाश में प्रवर, वेद और प्रणव का आवाहन तथा पूजन किया जाता है। फिर मार्जन, सूर्यदर्शन और गायत्री से दस बार अभिमन्त्रण करके उसे पहना जाता है। जब-जब पुराना यज्ञोपवीत उतारकर नया पहनना हो, तब-तब यह विधि करनी चाहिए। नए को पहनने की तरह पुराने यज्ञोपवीत को उतारने की भी संक्षिप्त विधि है।

श्रौत, स्मार्त कर्मों में दो यज्ञोपवीत पहनना चाहिए। किसी का पहना हुआ न पहने।

यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौतस्मार्तेषु कर्मसु ।
कण्ठादिकटिपर्यन्तं ब्रह्मसूत्रं पवित्रकम् ।
न्यूने रोगप्रवृत्तिः स्यादधिके धर्मनाशनम् ।
विक्रीतं विधवासृष्टं भुक्त्वा कृतमधोगतम् ।
अनध्यायकृतं चैव वर्जयेदुपवीतकम् ।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ।
उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
भिन्नं क्षिप्त्वाप्सु गृह्णीयान्नवं मन्त्रेण कोविदः । इत्यादि

इन पद्यों का अर्थ स्पष्ट है।

× × × ×

तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिविशन्ति........तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।" इत्यादि। अर्थात्

जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है, जिसके कारण जीवित रहता है और अन्त में यह सब जिसमें विलीन होता है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण है और वही उसका उपादान-कारण है, यह बात इस श्रुति से स्पष्ट सिद्ध होती है। कुम्हार से घड़ा उत्पन्न होता है, अतः वह उसका निमित्त है; परन्तु घड़ा कुम्हार के भीतर विलीन नहीं हो सकता। लय उसका कपाल या मिट्टी में ही होता है। प्रत्येक वस्तु अपने उपादान-कारण में ही विलीन हो सकती है, निमित्त में नहीं, अतः जब तक ब्रह्म को जगत् का उपादान और निमित्त, दोनो न मान ले, अर्थात् भगवान् शङ्कराचार्य की 'अभिन्ननिमित्तोपादानता' की शरण में जब तक न जाय, तब तक कोई भी दार्शनिक या मतवादी इस श्रुति का स्वारसिक समन्वय नहीं कर सकता।

यदि यज्ञोपवीत को वैदिक धर्म या सनातन-धर्म का संक्षिप्त रूप अथवा फ़ोटो कहा जाय, तो कुछ अत्युक्ति न होगी। वेदों का सिद्धान्त है कि ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, उसी के कारण जीवित या अवस्थित रहता है और अन्त में फिर उसी (ब्रह्म) में लीन होता है। एक ही ब्रह्म से त्रिगुण जगत्—नाम-रूप—का प्रपञ्च होता है, और अन्त में फिर वही ब्रह्म अवशिष्ट रहता है। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार एक ही ब्रह्म का सूत्र (सिलसिला) सम्पूर्ण संसार में फैला हुआ है, और अन्त में सबका ब्रह्म में ही लय होता है। अब ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) की रचना पर ध्यान दीजिये। एक ही सूत्र से इसकी रचना आरम्भ होती है। एक सूत्र से इसके तीन सूत्र (तीन लपेट) बनाए जाते हैं, और अन्त में ब्रह्मग्रन्थि पर समाप्ति होती है। जिस प्रकार वैदिक सिद्धान्त में एक (ब्रह्म) से तीन (सत्त्व, रजस्, तमस्) और तीन से फिर अन्त (प्रलय) में एक (ब्रह्म) अवशिष्ट रहता है, इसी प्रकार यज्ञोपवीत भी एक (सूत्र) से तीन (लपेट)

बनकर अन्त में ब्रह्म (ग्रन्थि) में समाप्त होता है। जगत् की उत्पत्ति से पूर्व एक (एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म) ही है और प्रलय के बाद भी वही है। संसार-दशा या व्यवहार-दशा में त्रिगुणमयी प्रकृति का चक्कर है। यही दशा इस ब्रह्मसूत्र की है। आरम्भ में एक ही सूत्र और अन्त में भी सब मिलकर एक ही (ब्रह्म) ग्रन्थि और बीच में तीन तारों का चक्कर है।

ब्रह्मग्रन्थि का अर्थ है ब्रह्मबोधक ग्रन्थि अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान करानेवाली गाँठ। ब्रह्मपाश में प्रवर के ऊपर तीन गाँठें—जो तीन वेदों की बोधक हैं—दी जाती हैं। यज्ञसूत्र के दोनो सिरों में से एक में दो और दूसरे में एक गाँठ दी जाती है। अन्त में इन दोनो को मिलाकर—एक सूत्र करके—उसके ऊपर डेवढ़ी गाँठ दी जाती है। इसे 'प्रणव' कहते हैं। 'प्रणव' का अर्थ है ओंकार। ध्यान-पूर्वक इस ग्रन्थि के स्वरूप को देखिए तो ओंकार का रूप साफ़ दीखेगा। यज्ञोपवीत के ऊपर की रचना देखिए—एक सूत्र के तीन लपेटों के बाद दोनो सिरों पर तीन गाँठें पहले देखिए।
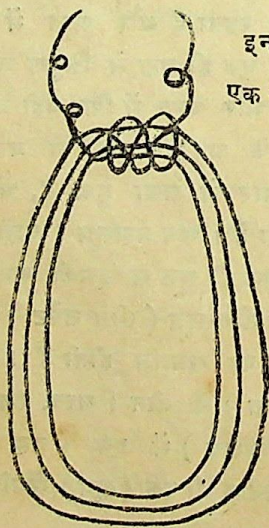
(प्रवर चिह्नों के नीचे एक पाश भी बनाया जाता है, परन्तु उसके दिखाने से चित्र की स्पष्टता भङ्ग होती थी, अतः इसमें उसे छोड़ दिया है। ब्रह्मग्रन्थि के स्पष्टीकरण में ही इस चित्र का तात्पर्य है।)

इन दोनो सिरों को मिलाकर एक में यों जोड़ा जाता है।

इस ग्रन्थि को तिरछा करके देखिए, तो साफ़ ॐकार की मूर्ति दीखेगी।

प्रणव या ब्रह्म की बोधक इस ग्रन्थि को ब्रह्मग्रन्थि कहते हैं। तीन वेदों का यही सार है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के तीन तारों को पूरा करके संन्यासी की आस्था इसी में होती है। छान्दोग्यउपनिषद् (२प्र., २३ खं.) में लिखा है—

(तिरछी ग्रन्थि)
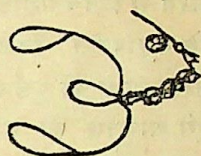
"प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सम्प्रास्रवत्, तामभ्यतपत् तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त भूर्भुवःस्वरिति॥२॥ तान्यभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः सम्प्रास्रवत् तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृणानि एवमोंकारेण सर्वा वाक् सन्तृणा ॐकार एवेदꣳ सर्वम् ॐकार एवेदꣳ सर्वम्।"

लेख बहुत लंबा हो गया है, अतः इसकी हम विस्तृत व्याख्या न करेंगे। बुद्धिमान् पाठक स्वयं विचार करें। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि प्रजापति ने संपूर्ण जगत् का सार—उसकी तपस्या का फल—वेदों को पाया। वेदों का सार 'भूः भुवः स्वः' इन अक्षरों में पाया और इनका भी सार एक ॐकार में पाया। जिस प्रकार एक कील के सहारे उसमें छिदे हुए अनेक पत्ते अवस्थित रहते हैं, इसी प्रकार एक ॐकार में सम्पूर्ण वेद-विद्या आश्रित है। ॐकार ही सब कुछ है। यह सम्पूर्ण संसार ॐकार (ब्रह्म) के सिवा और कुछ नहीं। सब कुछ ॐकार ही है।

इस प्रकार इस निबन्ध में हमने यज्ञोपवीत पर पूर्वपक्ष, उपनयन, आचार्यकरण, व्रतबन्ध, यज्ञसूत्र पहनने का प्रयोजन, तीन तार, तीन वर्ण, तीन आश्रम, दक्षिण स्कन्ध और वाम स्कन्ध पर रखने का प्रयोजन, देव-पितृ-कार्य, उपवीत, प्राचीनावीत, निवीत, ब्रह्मशौच, सूत्र-रचना का प्रकार, ब्रह्मसूत्र, ब्रह्मपाश, प्रवर, ब्रह्मग्रन्थि और प्रणव (ॐकार) आदि विषयों पर युक्ति और

प्रमाणों द्वारा थोड़ा-बहुत विचार किया है। इन विषयों पर मनन करने से विवेचनाशील पाठकों की समझ में यह बात आ सकेगी कि यज्ञोपवीत केवल अलङ्कार नहीं है और न दुपट्टे आदि की तरह कपास की दुर्लभता के समय—आदि-युग में—ऋषि लोग इसे आभूषण की तरह पहना करते थे। यह कोरा राष्ट्रीय या जातीय चिह्न भी नहीं है, बल्कि विशुद्ध धार्मिक चिह्न है। तीन वर्णों और तीन आश्रमों में प्रतिनियत है। तीन वेदों और तीन देवताओं का समर्थक है। तीन लोकों और तीन काण्डों (कर्म-काण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड) में अनुस्यूत वैदिक धर्म का सूक्ष्म चित्र है। एवं तीन ऋणों—देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण—का प्रयोजक तथा सम्पादक है। सनातनधर्म का प्रतिज्ञासूत्र है और ॐकार में परिसमाप्त है।

इसीलिये इस लेख के आरम्भिक पद्य में हमने लिखा है—

"त्रिगुणं त्रिगुणातीतबोधकं शोधकं सताम्।
प्रजापतेर्यत्सहजं तत्तत्त्वं किंचिदुच्यते।"

अर्थात् यज्ञोपवीत त्रिगुण (तीन सूत्रवाला) होने पर भी त्रिगुण (तीन गुण=सत्त्व, रजस्, तमस्) से अतीत (ब्रह्म) का बोधक है। सत् अर्थात् संस्कार-विशिष्ट ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का (सब वर्णों का नहीं) शोधक है और प्रजापति का सहजन्मा है। इसके नियमपूर्वक धारण से आयु, तेज और बल प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक मनन योग्य बातें बुद्धिमान् पाठक इस लेख में पा सकेंगे। हम इसे यहीं समाप्त करते हैं।

श्रीमृत्युञ्जयभवन,
ऐबट रोड, लखनऊ

शालग्राम शास्त्री

अथ नवीनयज्ञोपवीतधारणविधिः ।
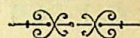
तत्रादावाचम्य प्राणानायम्य । ॐ अस्य यज्ञोपवीतमिति मन्त्रस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः लिङ्गोक्ता देवता श्रौतस्मार्तकर्म्मानुष्ठानसिद्ध्यर्थम् श्रीसूर्य्यनारायणप्रीत्यर्थञ्च यज्ञोपवीतधारणाख्यङ्कर्म्माहं करिष्ये । अथ च—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णोहस्ताभ्याम् ।

इति मन्त्रम्पठन् यज्ञोपवीतं गृहीत्वा अथ * वशिष्ठमावाहयामि, इन्द्रप्रमदमावाहयामि, आभरद्वसुमावाहयामि इति प्रवरानावाह्य । ॐब्रह्मयज्ञानमित्यस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः ब्रह्मा देवता सूत्रमध्ये ब्रह्मावाहने विनियोगः ।

ॐब्रह्मयज्ञानम्प्रथमपुरस्ताद्विसीमतः सुरुचोव्वेनऽआवः । स बुध्न्याऽ उपमाऽ अस्यव्विष्ठाः सतश्चयोनिमसतश्च व्विवः ।

इति मन्त्रं पठित्वा सूत्रमध्ये ब्रह्माणमावाहयामीति वदेत् । इदं विष्णुरिति मन्त्रस्य मेधातिथिर्ऋषिः गायत्रीछन्दः विष्णुर्देवता त्रिगुणीमध्ये विष्णवावाहने विनियोगः ।

ॐ इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्यपांꣳसुरेस्वाहा ।

---

* वशिष्ठगोत्रिणामेते प्रवराः । अन्येषां तु यथायोग्यम् ।

इति त्रिगुणिमध्ये विष्णुमावाहयामि । ॐत्र्यम्बकमिति मन्त्रस्य वशिष्ठऋषिः अनुष्टुप्छन्दः रुद्रो देवता रुद्रावाहने विनियोगः ।

ॐत्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।

ग्रन्थिमध्ये रुद्रमावाहयामि । अथ तन्तुषु देवन्यासविधिः । ॐओंकारम्प्रथमतन्तौ न्यसामि। ॐअग्निं द्वितीयतन्तौ न्यसामि। ॐनागं तृतीयतन्तौ न्यसामि। ॐ सोमं चतुर्थतन्तौ न्यसामि । ॐ पितॄन्पञ्चमतन्तौ न्यसामि। ॐ प्रजापतिं षष्ठतन्तौ न्यसामि! ॐ वायुं सप्तमतन्तौ न्यसामि । ॐसूर्य्यमष्टमतन्तौ न्यसामि। ॐविश्वान्देवान्नवमतन्तौ न्यसामि। ॐआपोहिष्ठेतितिसृणामृचांसिन्धुद्वीपऋषिःगायत्रीछन्दःआपोदेवता यज्ञोपवीतमार्जने विनियोगः।

ॐआपोहिष्ठा मयोभुवः । ॐता न ऊर्ज्जे दधातन । ॐमहेरणाय चक्षसे । ॐ यो वः शिवतमो रसः । ॐतस्य भाजयतेह नः । ॐउशतीरिव मातरः । ॐतस्माऽअरंगमामवः ॐयस्य क्षयाय जिन्वथ । ॐ आपोजनयथा च नः ।

इति यज्ञोपवीतं मार्ज्जयेत् । ॐतत्सवितुरिति मन्त्रस्य विश्वामित्रऋषिः गायत्रीछन्दः सविता देवता यज्ञोपवीताभिमन्त्रणे विनियोगः ।

ॐतत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।

इति मन्त्रेण दशवारं यज्ञोपवीताभिमन्त्रणं कुर्यात् । ॐचित्रं

देवानामितिमन्त्रस्य कौत्सऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता यज्ञोपवीतसूर्य्यदर्शने विनियोगः ।

ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्म्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्राद्यावा पृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्य्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

इति यज्ञोपवीतं सूर्य्यसम्मुखङ्कुर्य्यात् ।

ॐ तच्चक्षुर्देवहितंपुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्भूयश्च शरदः शतात् ।

इत्यनेन मन्त्रेण यज्ञोपवीतं त्रिवारं ताडयेत् । ॐ यज्ञोपवीतमिति मंत्रस्य प्रजापतिऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः लिङ्गोक्ता देवता श्रौतस्मार्त्तकर्म्मानुष्ठानसिद्ध्यर्थे यज्ञोपवीतधारणे विनियोगः ।

ॐ यज्ञोपवीतम्परमम्पवित्रं
प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यम्प्रतिमुञ्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतम्बलमस्तुतेजः ।

ॐ यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ।

इति मन्त्रेण दक्षिणबाहुमुद्धृत्य वामस्कन्धे यज्ञोपवीतं निवेशयेत् । यज्ञोपवीतविसर्जनमन्त्रः—

उपवीतम्ब्रह्मतन्तुञ्जीर्णङ्कलमषदूषितम् ।

विसृजामि ततो ब्रह्मचर्य्यौदार्य्यायुरस्तु मे १
मेध्यामेध्यविशेषज्ञे दिव्यगोत्रि सरस्वति ।
पूर्वोपवीतन्त्यजयामि तन्नो देवी प्रचोदयात् २
यज्ञोपवीतम्परमम्पवित्रं
वेदान्तनीतम्परब्रह्मसत्यम् ।
आयुष्यमग्र्यं सत्कृत्य शुभ्रं
जीर्णोपवीतं विसृजास्तु तेजः । ३ ।

निष्कासनसमये प्राचीनं यज्ञोपवीतं पादमार्गेण निष्कासनीयम्, नतु मस्तकमार्गेण ।

मासत्रयान्ते सन्त्याज्यमुपवीतं सदाद्विजैः ।
उपाकर्म्मण्यथोत्सर्गे स्वाशौचान्ते च सर्वथा ।
क्षालनम्प्रत्यहङ्कुर्य्यादेष एव विधिः स्मृतः ।
कण्ठादिकटिपर्यन्तं ब्रह्मसूत्रम्पवित्रकम् ।
न्यूने रोगप्रवृत्तिः स्यादधिके धर्मनाशनम् ॥
विक्रीतं विधवासृष्टम्भुक्त्वाकृतमधोगतम ।
अनध्यायकृतं चैव वर्ज्जयेदुपवीतकम् ।
यज्ञोपवीते द्वे धार्य्ये श्रौतस्मार्त्तेषु कर्म्मसु ।
बिभृयाच्च ततो नित्यमायुःकामो बहून्यपि ।
ऋषितर्प्पणचाण्डालभाषणप्रेतवाहने ।
विण्मूत्रमैथुने चैव कार्य्यं षट्सु निवीतकम् ।
उपाकर्म्माण्यशौचान्ते च गते मासचतुष्टये ।
ब्रह्मसूत्रं नवन्धार्य्यन्धृत्वा जीर्णं च सन्त्यजेत् ।